मुद्रा

लेखक

डी. एच. राबर्टसन, एम. ए.
प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, लण्डन विश्व विद्यालय
तथा फैलो ट्रिनिटी कालज-केम्ब्रिज

भूमिका लेखक

सी. डब्ल्यू गिलवाड.

अनुवादक

अमरनाथ अग्रवाल
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, रामजस कालेज, दिल्ली ।



एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली-लखनऊ-जालन्धर

Published in Hindi by arrangements with
Cambridge University Press
by S. Chand & Co., Fountain, Delhi.

एस. चन्द एण्ड को०
फव्वारा — दिल्ली
आसफअली रोड—नई दिल्ली
माई हीरां गेट — जलन्धर
लाल बाग — लखनऊ

मूल्य ६)

Printed at Vishva Bharatiya Press, Pahar Ganj,
New Delhi.

विषय-सूची

ग्रन्थमाला की भूमिका

(सम्पादक की ओर से)

१९१४-१८ के महायुद्ध के तत्काल उपरान्त अर्थशास्त्र सम्बन्धी ऐसी परिचयात्मक पुस्तिकाओं की आवश्यकता जान पड़ने लगी थी "जो साधारण पाठक तथा अदीक्षित विद्यार्थी को उन सामान्य विचार सिद्धान्तों का तनिक आभास दिला सकें जिनका प्रयोग अर्थशास्त्री आजकल आर्थिक समस्याओं के विवेचन के लिए करते हैं।"

इस ग्रन्थमाला की योजना स्वर्गीय लार्ड केन्स ने "केम्ब्रिज इकनामिक हैंडबुक्स" के नाम से बनाई थी और उन्होंने इसके लिए एक सामान्य सम्पादकीय भूमिका भी लिखी थी। ऊपर उद्धृत वाक्य उसी भूमिका का अंग है। १९३६ में लार्ड केन्स ने इस ग्रन्थमाला का सम्पादन कार्य श्री डी० एच० राबर्टसन को सौंप दिया। यूनिवर्सिटी आफ लन्दन में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त होने तक वह यह कार्य करते रहे।

पाठकों ने इस ग्रन्थमाला का जो स्वागत किया है, उसने इस विचार के उद्भावकों के विवेक का औचित्य पूर्णतः स्थापित कर दिया है। ब्रिटिश साम्राज्य में तो इसका प्रचार है ही, आरम्भ से ही यह ग्रन्थमाला अमरीका में भी प्रकाशित होती रही है और इसकी प्रमुख पुस्तकों के जर्मन, स्पेनिश, इटेलियन, स्वीडिश, जापानी, पोलिश और लिथुआनियन भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके हैं।

पन्द्रह वर्ष की अल्प अवधि में ही मूल सम्पादकीय भूमिका के एक भाग में संशोधन करने की आवश्यकता उन परिवर्तनों की द्योतक है जो अर्थशास्त्र के विकास के सम्बन्ध में इन दिनों हो रहे हैं और जो लार्ड केन्स के कार्य तथा प्रभाव से विशेषतः सम्बद्ध हैं। मूलरूप में ग्रन्थमाला की सम्पादकीय भूमिका का अन्तिम खंड इस प्रकार था :

"यहाँ तक कि सैद्धान्तिक विषयों के सम्बन्ध में भी अभी तक प्राध्यापकों में परस्पर पूर्ण मतैक्य नहीं है। सामान्यतः इन पुस्तकों के लेखक अपने को 'केम्ब्रिज स्कूल आफ इकनामिक्स' के परम्परावादी सदस्य मानते हैं। इस विषय के सम्बन्ध में उनके अधिकतर विचारों और यहाँ तक कि पक्षपातों का मूल उद्गम भी उस सम्पर्क में खोजा जा सकता है जो उन्हें दो ऐसे अर्थशास्त्रियों—डा० मार्शल और प्रोफेसर पीगू—के भाषणों तथा पुस्तकों के परिचय के कारण प्राप्त है जिन्होंने पिछले पचास वर्षों में केम्ब्रिज विचारधारा को प्रधान रूप से प्रभावित किया है।"

जब इस ग्रन्थमाला का सम्पादन श्री डी० एच० राबर्टसन को सौंपा गया, उस समय लार्ड केन्स ने यह स्वीकार कर लिया कि उनके द्वारा लिखी गयी सामान्य भूमिका बनी रहने दी जाय, किन्तु बाद में उन्होंने अन्तिम खंड को पुनः लिखकर उसे इस रूप में रखा :

"यहां तक कि सैद्धान्तिक बातों के सम्बन्ध में भी अभी तर्क इस विषय के पंडितों में परस्पर पूर्ण मतैक्य नहीं है। युद्ध के तत्काल उपरान्त नित्य की आर्थिक घटनाएं कुछ ऐसी चौंका देने वाली प्रकृति की थीं कि उन्होंने सैद्धान्तिक जटिलताओं की ओर से ध्यान हटा दिया। किन्तु आज अर्थशास्त्र ने अपनी गति पुनः प्राप्त कर ली है। परम्परागत विवेचन पद्धतियों और परम्परागत समाधानों के सम्बन्ध में छान-बीन, सुधार एवं संशोधन का कार्य किया जा रहा है। अनुसंधान की यह प्रक्रिया अन्ततः मतभेद का उन्मूलन कर देगी, किन्तु अभी तो इससे संदेहों और मतभेदों की ही अभिवृद्धि हुई है। इस ग्रन्थमाला में निहित विषयों के अनेक अंश यदि निश्चयात्मकता एवं स्पष्टता के उस स्तर तक नहीं पहुंच सके हैं जो उन्हें बोधगम्य बनाने के लिए आवश्यक हैं, तो इस पुस्तकमाला के लेखकों को पहले ही सामान्य तथा प्रारम्भिक पाठकों से इसके लिए क्षमायाचना कर लेनी चाहिए।"

अपेक्षाकृत नयी घटनाओं ने एक ऐसे संसार की सृष्टि कर दी है

जो उस समय के संसार से सर्वथा भिन्न है जब उपर्युक्त शब्द लिखे गये थे। अतएव वर्तमान सम्पादक के लिए एक नयी भूमिका लिखना अनिवार्य सा हो गया है।

कदाचित् यह एक सुविधाजनक तथा श्रेष्ठ स्थल है जहाँ से हम पिछले तीस वर्षों में इस देश में होने वाले आर्थिक विचारधारा की प्रमुख दिशाओं के विकास का सिंहावलोकन कर सकते हैं। १९१४ से पूर्व यहाँ के आर्थिक सिद्धान्तों पर एलफ्रेड मार्शल का विशेष प्रभुत्व था। उन्हीं का अनुकरण करते हुए, अर्थशास्त्री संतुलन की स्थितियों की ओर ले जाने वाली आर्थिक प्रणाली के विभिन्न भागों का दीर्घ-कालीन प्रवृत्तियों की विधा में ही विचार किया करते थे यद्यपि सदा प्रस्तुत रहने वाले सबल कारण वर्तमान ढाँचे में निरन्तर फेर-बदल ला रहे थे और परिवर्तन तथा स्वीकृति के लिए, समान रूप से नये और साथ ही दूरस्थ—सम्भवत: उतने ही अगम्य — लक्ष्य प्रस्तुत कर रहे थे। इसके अतिरिक्त, मार्शल की पद्धति में वे प्रवृत्तियाँ उन निहित आग्रहशील शक्तियों का परिणाम थीं जिन्हें प्राय: परस्पर स्पर्धा-त्मक माना जाता था। निस्सन्देह, एकाधिकार की ओर बढ़ता हुआ रुझान विचारधारा को प्रभावित कर रहा था, किन्तु यह प्रभाव मूल्य सिद्धान्त के क्षेत्र में उतना अधिक नहीं था जितना अधिक यह उस बल में था जो व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक हित के सम्भव अन्तरों व विरोधों पर दिया जा रहा था। प्रोफेसर पीगू के प्रभाव से प्राचीन सन्तति के 'मूल्य अर्थशास्त्र' (Value Economics) के साथ-साथ—और उसी में से — एक 'कल्याणकारी अर्थशास्त्र' (Welfare Economics) का भी विकास हो रहा था।

१९१८ के उपरान्त अभावग्रस्त क्षेत्रों की दीर्घकालीन यातना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में इस देश की स्थिति की दुर्बलता और १९३०-३२ के आर्थिक मंदी की भयंकर गहनता (अनेक कारणों में से यहां केवल कुछ का ही उल्लेख किया जा रहा है) ने मिलकर एक

ओर तो अल्प कालीन समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया और दूसरी ओर इस प्रश्न को सन्देहास्पद बना दिया कि अपने आप संतुलन कर लेने वाली और देखने में स्वचालित जान पड़ने वाली वह प्रणाली —जिसने सामान्यत: १९वीं शताब्दी में इतनी प्रभावशालिता के साथ कार्य किया था—किस हद तक उन गहरी विरसताओं तथा अव्यवस्थाओं का सामना करने में समर्थ हो सकेगी जो युद्धोत्तरकालीन संसार की अपनी विशेषतायें थीं। उसी समय स्वयं मूल्य-सिद्धान्त पर भी उन अनेक लेखकों के उदय का गहरा प्रभाव पड़ने लगा था जो मूल्य सम्बन्धी समस्याओं पर, एकाधिकार के दृष्टिकोण से, विचार करते थे और ऐसे विशलेषण की अस्वाभाविकता पर बल देते थे जो पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competetion) और पूर्ण बाजार (Perfect Market) की मान्यताओं पर आधारित था। आर्थिक विचारधारा इन सबसे अधिक इस समस्या का समाधान ढूंढ निकालने की इच्छा से अभिभूत थी कि प्रभावपूर्ण माँग का ऐसा स्तर किस प्रकार बनाए रखा जाय जिससे कि भीषण मंदी और व्यापक बेकारी की पुनरावृत्ति से बचा जा सके। लम्बी अवधि—"जिसमें कि हम सब मृत समान होते हैं—के अर्थशास्त्र के प्रति असन्तोष की भावना बढ़ रही थी और उस अल्प अवधि पर अधिक—कदाचित् आवश्यकता से बहुत अधिक—ध्यान दिया जा रहा था जिसमें कि हम जीते हैं, चलते फिरते हैं, और अपने अस्तित्व के स्वामी होते हैं।

इसका परिमाण था विचारों का उफान। प्राचीन धारणाओं को चुनौती दी जाने लगी और फिलहाल मतभेद और संदेहों में अभिवृद्धि होती रही। सितम्बर, १९३९ में जर्मनी के साथ युद्ध छिड़ जाने के समय तक भी यह उफान शान्त नहीं हो सका था। युद्ध का परिणाम यह हुआ कि आर्थिक प्रणाली के सामान्य शान्तिकालीन कार्य-व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप इतना अधिक बढ़ गया जितना कि वह १९१४-१८ के महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में भी नहीं बढ़ा था।

जहाँ तक भावी घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है, ऐसा जान पड़ता है कि भविष्य में भूतकाल की अपेक्षा आर्थिक प्रक्रिया के अनेक पक्षों पर जागरूक सरकारी नियंत्रण कहीं अधिक रहेगा। लार्ड केन्स की भूमिका के शब्द दोहरा कर कहा जा सकता है कि निस्सन्देह भविष्य में भी यह सत्य सिद्ध होगा कि—

"अर्थशास्त्र का सिद्धान्त ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं करता जिन्हें तत्काल नीति के रूप में अपनाया जा सके। एक सिद्धान्त की अपेक्षा यह तो एक तरीका, मस्तिष्क का एक यंत्र एवं सोचने की एक प्रणाली है जिससे हमें सही निष्कर्ष निकालने में सहायता प्राप्त होती है।"

फिर भी सम्भव है कि भविष्य में अर्थशास्त्रियों को आर्थिक नीति से सम्बद्ध मामलों के सम्बन्ध में अपने विचार पहले अथवा अब की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में अभिव्यक्त करने के लिए कहा जाय और—कम-से-कम कुछ समय तक तो—सम्भवतः "केम्ब्रिज इकनामिक हैंडबुक्स' ग्रन्थमाला के भावी प्रकाशनों के लेखकों का सम्बन्ध अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के सामान्य पहलुओं की अपेक्षा विशेष समस्याओं के साथ ही अधिक रहेगा।

—सी० डब्ल्यू० जी०

केम्ब्रिज
जुलाई १९४६.

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

१९२८ के बाद से अब तक संशोधित न होने पर भी इस पुस्तक की मांग अभी शेष है। जैसा कि मुझे समय-समय पर बताया जाता रहा है, इस मांग का श्रेय मुख्यतः पुस्तक के अध्याय-शीर्षकों को प्राप्त है। मैं यह वस्तुस्थिति जारी नहीं रहने दे सकता, किन्तु १९२८ के बाद जो घटनाएँ घटित हो चुकी हैं उन्हें ध्यान में रखकर इस पुस्तक का संशोधन मेरे लिए पूर्णतः असम्भव ही है। अतः मैंने पुराने अध्यायों में कोई परिवर्तन नहीं किया है। केवल अध्याय २ के एक प्रसंग (मुद्रा-मूल्य के विभिन्न अर्थ) के विवेचन में कुछ आवश्यक सुधार किया गया है। इसी अध्याय में से बहुत पुरानी सामग्री के कुछ अंश (मूल्यों के सूचक अंकों के सम्बन्ध में) काट भी दिये गये हैं। मैंने दो नये अध्याय (अध्याय ९ और १०) अवश्य जोड़े हैं। इनमें से एक तो मुख्यतः विवरणात्मक है और दूसरा तर्कात्मक। इन अध्यायों का उद्देश्य पाठकों को उन घटनाओं का तनिक आभास दिलाना है जो उस समय के बाद से सिद्धांत और यथार्थ, दोनों क्षेत्रों, में घटित होती रही हैं जब इस पुस्तक को पुनः लिखा गया था।(दोनों नये अध्यायों को पुस्तक में छोटे से प्रतीकात्मक परिशिष्टों के पश्चात् स्थान दिया गया है ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि वे पुरानी पुस्तक के ही एक अंग हैं।)

यह आवश्यक है कि १९४७ अथवा उसके बाद के वर्षों में इस पुस्तक के पढ़ने वाले महानुभावों को स्पष्टतः यह समझ लेना चाहिए कि वे क्या कर रहे हैं। प्रथम आठ अध्यायों में उन्हें १९२८ की आंखों से देखा गया १९२८ के संसार का वर्णन पढ़ने को मिलेगा। पाठकों को यह नहीं मान लेना चाहिए कि इन अध्यायों में तथ्य-सम्बन्धी जो

विवरण दिये गए हैं वे आज भी सत्य हैं अथवा जो विवरण आज सत्य सिद्ध नहीं होते उन्हें अध्याय ९ में भली प्रकार ठीक कर दिया गया हैं। पाठकों को यह भी नहीं समझना चाहिए कि यदि मैं नये सिरे से यह पुस्तक लिखूँ तो मैं उनसे मुद्रा का अध्ययन ठीक इसी प्रकार करने की आशा करूँगा। यदि यह बात भली प्रकार समझ ली जाय, तो मैं यह आशा करने का साहस कर सकता हूँ कि यह पुस्तक पाठक को अब भी किसी हद तक दिलचस्प तथा उपयोगी सिद्ध होगी। कुछ भी हो, अध्याय-शीर्षक तो अब भी हैं ही, इतना ही नहीं, अब तो उस संख्या में दो और जुड़ गये हैं।

अध्याय १० में मैंने ऐसे कुछ वाक्यों का प्रयोग किया है जो मई १९४७ में दिये गये एक रेडियो भाषण के अंग हैं और 'दि लिसनर' में प्रकाशित भी हो चुके हैं।

१९२८ वाले संस्करण के पुनर्मुद्रित संस्करण (१९३७) की भूमिका में मैं तीन खण्ड (खण्ड २ से ४) और जोड़ रहा हूँ।

§२. इच्छा तो यही है कि यह पुस्तक लगभग एक स्वतंत्र तथा स्वतःपूर्ण इकाई सिद्ध हो, किन्तु मूल रूप में यह एक ग्रंथमाला की दूसरी पुस्तक थी। मूल्य के सामान्य सिद्धांत के एक विशेष विषय के रूप में मैंने मुद्रा-सिद्धांत पर जो बल दिया है उससे मेरी इस पुस्तक और इस ग्रंथमाला की प्रथम पुस्तक—श्री हेंडरसन की 'सप्लाई एण्ड डिमांड' का सम्बन्ध जाना जा सकता है। जहाँ तक ग्रंथमाला की शेष पुस्तकों के साथ इसके सम्बन्ध की बात है, उसे आप इस पुस्तक के निष्कर्ष में देख सकते हैं, और वह निष्कर्ष यह है कि अन्ततः मुद्रा का विषय गौण महत्त्व का ही है—इस अर्थ में कि न तो अधिकतम क्रांतिकारी और न पूर्णतः ठोस मौद्रिक-नीति से यह आशा की जा सकती है कि वह उन तनावों तथा विरसताओं का उपचार करने में समर्थ हो सकेगी जिनकी जड़ें उद्योग के आधुनिक ढांचे—और कदाचित् मनुष्य की अपनी प्रकृति में ही अत्यंत गहरी जमी हुई हैं।

§३. प्रस्तुत पुस्तक व्याख्यात्मक है, अनुसंधानात्मक नहीं। अतः मैंने (कुछ विशेष अवसरों के अतिरिक्त) अन्य व्यक्तियों के विचारों तथा परिश्रम से स्वच्छंदतापूर्वक तथा विस्तार के साथ उनकी कृतज्ञता स्वीकार किये बिना लाभ उठाया है। मैं सर्वश्री मार्शल, पीगू, केसल, नेप, इरविंग फिशर, हाट्र, टासिग और विदर्स की प्रामाणिक कृतियों और अध्याय ६ के वर्ण्य-विषय के लिए, सर्वश्री रेगरी तथा जैक की कृतियों का अत्यंत आभारी हूँ। इस पुस्तक के मूल तथा १९२८ वाले संस्करण पर श्री जे० ऐम० केन्स का जो अतुलनीय ऋण था, वह समय की लम्बी अवधि द्वारा कम नहीं हुआ है। स्वरचित 'बैंकिंग पालिसी एण्ड दि प्राइस लेवल' और 'इकानामिक एसेज एन्ड एड्रेसिज' (ये दोनों पुस्तकें पी० एस० किंग एण्ड सन ने प्रकाशित की हैं) में पुनर्मुद्रित अपने भाषण 'थ्योरीज आफ बैंकिंग पालिसी,—में निहित विचारों तथा कुछ उद्धरणों का भी उपयोग इस पुस्तक में किया गया है।

§४. जहाँ किसी पूर्व-निर्धारित निष्कर्ष का प्रयोग किसी नवीन तर्क के आधार के रूप से किया गया है, वहाँ मैंने उस निष्कर्ष को पुनः विस्तृत रूप में उद्धृत करके पाठक को सहायता देने की अपेक्षा, संक्षेप के विचार से, अध्याय-संकेत मात्र से ही संतोष कर लिया है। इन संकेतों को अप्रिय मानने वाले पाठक चाहें तो उनकी उपेक्षा भी कर सकते हैं, किन्तु उनकी उपेक्षा करने पर पाठकों को यह शिकायत करने का अधिकार भी नहीं रहेगा कि नया तर्क उनकी स्मरण अथवा विवेक-शक्ति पर बहुत अधिक भार डाल रहा है। किसी भी पाठक के लिए दोनों परिशिष्ट देखना अनिवार्य नहीं है।

केम्ब्रिज, —डी० एच० आर०

मई, १९४७,

अध्याय :: १

मुद्रा के गुणावगुण

(The Merits and Drawbacks of Money)

"कर्कट एवं अन्य प्रकार की सभी वस्तुएँ उपलब्ध हैं," भेड़ बोली, "चुनने के लिए बहुत गुंजाइश है, केवल अपना मन स्थिर कीजिए। अब बताइए, आप क्या खरीदना चाहते हैं?"—थ्रू दि लुकिंग ग्लास

§१. **प्रारम्भिक** (Introductory)—मुद्रा का विषय इतना प्राणभूत नहीं है जितना प्रायः मान लिया जाता है, फिर भी अर्थशास्त्र का यह एक रोचक और महत्त्वपूर्ण अंग है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि आरम्भ में ही वह मुद्रा की उस कुहेलिका को, जो अधिकांश व्यावसायिक आदान-प्रदान को आवृत किए हुए है, चीरकर देखे कि उसके पीछे वास्तविक वस्तुओं और सेवा-व्यवहारों का क्या तारतम्य, क्या सम्बन्ध है। वस्तुतः जहाँ तक सम्भव हो वह और गहराई में जाने का प्रयत्न करे, और देखे कि हमारे उत्सर्ग एवं उपभोग, त्याग एवं तृप्ति के अनुक्रम में क्या हो रहा है। किन्तु यह सब करने के पश्चात् यह जाँचना भी आवश्यक है कि यथार्थ आर्थिक कल्याण के उत्पादन और वितरण पर दो परस्पर सम्बद्ध बातों का क्या प्रभाव पड़ा है—एक बात तो यह कि हम मुद्रा-यन्त्र का प्रयोग करते हैं और दूसरी यह कि उसे नियंत्रित रखना अभी हमें अपूर्ण ढंग से ही आता है।

इस प्रकार की जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता युद्ध के बाद

इस कारण और भी अधिक बढ़ी कि उन दिनों विश्व की मुद्रा-प्रणालियाँ (Monetary Systems) बिल्कुल अव्यवस्थित हो गयी थीं। मुद्रा-प्रणाली एक प्रकार का यकृत है। जब इसकी गति ठीक रहती है, हमें इसके सम्बन्ध में अधिक सोचने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु जब इसकी गति में दोष आ जाता है तो हमारा सारा ध्यान इस ओर आकृष्ट हो जाता है। युद्ध के बाद शीघ्र ही, लगभग प्रत्येक व्यक्ति को, मुद्रा की क्रय-शक्ति में जो महान् परिवर्तन हो रहे थे उनका तीव्र आभास होने लगा था, और अधिकांश लोगों को तो अस्पष्ट रूप से अन्य देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति के समकक्ष उनके अपने देश की मुद्रा की क्रयशक्ति में जो तीव्र परिवर्तन हो रहे थे उनका भी बोध हो चला था। अब तो फिर से परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत शान्त हो गयीं हैं। मुद्रा की समस्याएँ आज इतनी नाटकीय नहीं जितनी वे कुछ वर्ष पूर्व थीं, किन्तु बौद्धिक दृष्टि से वे कम रोचक नहीं हैं और न ही उनकी जानकारी वास्तविक सम्पत्ति और वितरण सम्बन्धी उन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को समझने के लिए कम आवश्यक है जिनका अध्ययन इस पुस्तक-माला के अन्य ग्रंथ प्रस्तुत करते हैं।

§२. **मुद्रा की परिभाषा** (Definition of Money)—यह तो स्पष्टतः वांछित है कि हम शीघ्र-से-शीघ्र मुद्रा के अर्थ को जान लें—यह समझ लें कि मुद्रा से हमारा क्या अभिप्राय है। इस विषय पर सब एकमत नहीं हैं किन्तु अर्थशास्त्र के अन्य पारिभाषिक शब्दों की तरह 'मुद्रा' शब्द के सम्बन्ध में भी इस बात का कोई विशेष महत्व नहीं कि हम उसे क्या अर्थ देते हैं जब तक कि हम अर्थ-विशेष पर टिके रहें अथवा बिना जानकारी के उसमें कोई परिवर्तन न लायें। इस पुस्तक में 'मुद्रा' शब्द का प्रयोग उन सब वस्तुओं के लिए किया जायगा जो चीजों के भुगतान या अन्य प्रकार के व्यापारिक लेन-देन में व्यापक रूप से स्वीकार की जाती हैं। यदि वे वस्तुएँ, जो मुद्रा के रूप में अभीष्ट हैं, जैसे कुछ सरकारी नोट—लेन-देन के भुगतान में

अपनी सर्वग्राह्यता खो बैठें तो वे मुद्रा का कार्य न कर सकेंगी। अर्थात् मुद्रा के रूप में उनका चलन बन्द हो जायगा और कम-से-कम अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थी की दृष्टि में तो वे मुद्रा नहीं रह सकेंगी। इसके विपरीत यदि कुछ वस्तुएँ जो अभी तक मुद्रा नहीं समझी जातीं (जैसे तम्बाकू या मवेशी अथवा टिनों में बन्द मांस) व्यापक रूप से लेन-देन के कार्य में ग्राह्य हो जायँ तो हमारे वर्तमान अर्थ में तो उन्हें मुद्रा ही माना जायगा।[1]

व्यापक रूप से स्वीकृति का गुण प्रायः एक दूसरे गुण को भी आत्मसात् किए रहता है—वह गुण है मुद्रा की इकाइयों के रूप में अभिव्यक्ति! वे इकाइयाँ जिनके माध्यम से आदान-प्रदान में व्यवहृत वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य प्रायः निर्धारित किया जाता है। मुद्रा सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों में जब यह कहा जाता है कि मुद्रा केवल 'विनिमय का साधन' नहीं है, किन्तु 'मूल्य का मान' भी है, तो इससे इसी अर्थ का बोध होता है। किन्तु जिस रूप में यह बात कही जाती है, वह मुद्रा की हमारी दी हुई परिभाषा से मेल नहीं खाती। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक वस्तु जो विनिमय के साधन के रूप में तो प्रयुक्त होती हो, वह मूल्य का मान भी हो। किन्तु वह वस्तु उस वस्तु के रूप में तो व्यक्त होनी ही चाहिए जो स्वयं मूल्य का मान है। उदाहरण के लिए जान स्मिथ के चैकों को ले लीजिए। ये लेन-देन में व्यापक रूप से स्वीकार किये जा सकते हैं। अतः इन्हें अपनी दी हुई परिभाषा के अनुरूप यथार्थतः मुद्रा के रूप में ग्रहण किया जा सकता

---

१. स्टेफर्डशायर की कोयले की खानों में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जो मजदूरी बियर (beer) के रूप में अंशतः दी जाती थी उसके सम्बन्ध में एक आधुनिक इतिहासकार का कथन है : "यह एक बहुत लोकप्रिय और अत्यन्त तरल मुद्रा थी, किन्तु इसका प्रचलन अत्यधिक मात्रा में हुआ और इसे संचित करना कठिन था।"

—फे : लाइफ एण्ड लेबर इन दि नाइनटींथ सेंचुरी, पृ० १६७।

है। इसी प्रकार बैंक ऑफ इंग्लैंड के पाँच पाउंड के नोट ग्रेट ब्रिटेन में सर्वत्र ग्राह्य हैं, और वे निश्चय ही मुद्रा हैं। किन्तु कोई भी व्यक्ति अपनी आय का लेखा-जोखा या अपने व्यवसाय का हिसाब-किताब न तो जान स्मिथ के चैकों और न बैंक ऑफ इंग्लैंड के नोटों के रूप में करता है। यह लेखा-जोखा पाउंड-स्टर्लिंग के रूप में किया जाता है—जान स्मिथ के चैक और बैंक ऑफ इंग्लैंड के नोट इसके गुणज मात्र हैं।

अस्तु, मुद्रा वह वस्तु है जो व्यावसायिक आदान-प्रदान में व्यापक रूप से ग्राह्य होती है। किंतु साधारणतया एक वस्तु इस कार्य के लिए तब तक व्यापक रूप से ग्राह्य नहीं होती, जब तक कि वह उस इकाई के गुणज के रूप में व्यक्त न होती हो जो वस्तुओं के मूल्य का मान होती है। 'मूल्य के मान' के सम्बन्ध में यह धारणा कतिपय कठिनाइयाँ उत्पन्न करती है—उन पर हम आगे विचार करेंगे। इस स्थान पर यह भी आवश्यक नहीं कि विभिन्न प्रकार की मुद्राओं और तत्सम्बन्धी मुद्रा प्रणाली पर विचार करें। इसे कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है। इस समय तो जो कुछ कहा जायगा वह हमारी दी हुई परिभाषा के अनुसार सब प्रकार की मुद्राओं पर लागू होगा।

§३. उपभोक्ता को मुद्रा से लाभ (The Advantage of Money to the Consumer)—हमारे लिए दूसरा विचारणीय प्रश्न है—"मुद्रा के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है ?" मुद्रा के व्यवहार के हम इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि उसके हम कितने ऋणी हैं यह जानने के लिए थोड़ा-बहुत कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा। पिछले कुछ वर्षों में विश्व के अनेक भागों में जनता स्वस्थ, सम्यक मुद्रा-प्रणाली के लाभों से वंचित रही है, और अब लोगों को यह अनुभव हो गया है कि अव्यवस्थित मुद्रा-प्रणाली कितनी असुविधाजनक हो सकती है तथा उसके परिणाम कितने घातक हो सकते हैं।

मुद्रा की पहली बड़ी सफलता इस बात में है कि उसने उपभोक्ता

के रूप में मनुष्य की क्रय-शक्ति का साधारणीकरण कर दिया है, समाज के प्रति वह अपनी स्वत्व-भावना जिस रूप में ठीक समझे उस रूप में व्यक्त कर सकता है। यदि मुद्रा न होती तो मनुष्य को उसके कार्य के फलस्वरूप वस्तुओं में ही मजदूरी दी जाती, और फिर चाहे उन पर कठोर नियंत्रण होता अथवा उनका उपभोग करने की निर्बाध छूट होती, दोनों ही अवस्थाओं में अपव्यय अवश्यम्भावी था। पहली अवस्था में तो लोग अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षा कुछ अन्य वस्तुएँ और सेवाएँ अधिक उपलब्ध करने के लिए उत्साहित होते तथा कुछ अन्य वस्तुएँ और सेवाएँ कम पाने पर विवश होते, और दूसरी अवस्था में हर प्रकार से अपव्यय करने का प्रलोभन पाते। मुद्रा-व्यवस्था की उपस्थिति से यह जानने में सुविधा होती है कि लोगों की क्या और कितनी आवश्यकताएँ हैं। इससे यह भी आसानी से मालूम हो जाता है कि क्या और कितनी मात्रा में उत्पादन करना है। इस प्रकार समाज को अपनी सीमित उत्पादन-शक्ति का सर्वोत्तम उपयोग करने में सुविधा होती है। मुद्रा-व्यवस्था समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए तृप्ति या आनन्द के जितने साधन उसकी पहुँच के भीतर हैं उनके अनुरूप अधिक-से-अधिक यथार्थ आनन्द-उपभोग या तृप्ति की संभावना उपस्थित करती है—दूसरे शब्दों में, उसे अवसर मिलता है कि न तो बस की सवारी में ही वह आनन्द-विभोर हो जाय और न चार्ली चैपलिन के परिहास में अपने आप को भूल बैठे।

सर्वाधिक तृप्ति और आनन्द की उपलब्धि के इस अवसर से कोई व्यक्ति कहाँ तक लाभ उठा सकता है, यह उसकी उस विवेक-शक्ति पर निर्भर करता है जो पेनी या शिलिंग के विभिन्न रूपों से खर्च करने पर संभावित तृप्ति की सापेक्ष मात्राओं को आँक सके तथा उस निर्णय पर तदनुरूप आचरण कर सके। कुछ व्यक्ति अपनी आय से सर्वाधिक लाभ उठाने के अवसर का पूर्ण उपयोग करते

हैं और कुछ ऐसे भी हैं, जो नित्य प्रति का खर्च सामान्य ढंग से करते रहने की सुविधाजनक आदत डाल लेते हैं और समझते हैं कि उनके लिए राई रत्ती का हिसाब न रखने के कारण होने वाली भौतिक आनन्द की तनिक हानि उस मानसिक चिन्ता से अधिक नहीं है जो पाई-पाई का हिसाब रखने में होती है। हो सकता है कि आनन्द अथवा तृप्ति की यह तनिक क्षति अपने आप में भी आनन्द या तृप्ति का एक स्रोत हो, फिर भी प्रत्येक अवस्था में, मनुष्य अपनी भौतिक आय खर्च करने के विशेषाधिकार—अर्थात् अपनी इच्छानुसार वस्तुओं आदि के रूप में वास्तविक आय की प्राप्ति—को बहुत महत्व देता है। इस महत्व की गरिमा का अनुमान उस संघर्ष की कहानी पढ़कर लगाया जा सकता है जो वस्तुओं के रूप में मजदूरी चुकाने की प्रथा के विरुद्ध हुआ था अथवा उस नव दम्पति की भावभंगिमा देखकर भी उसका तनिक आभास पाया जा सकता है जो प्राप्त उपहारों का सत्रहवाँ बंडल खोलने पर उसमें भी, अन्य सोलह बंडलों की भाँति, एक 'राइटिंग केस' ही पाते हैं।

निस्संदेह कुछ सेवाएँ ऐसी हैं, जैसे सड़कों का उपयोग, जो हम सबको बिना किसी विशेष भुगतान के उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यवसाय या पेशे भी हैं (जैसे सैनिक या घरेलू सेवाएँ) जहाँ सामान्यतः वस्तुओं के रूप में वेतन चुकाना सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए सुविधाजनक माना जाता है और जिन लोगों ने भविष्य के लिए किसी आदर्श अर्थ-व्यवस्था की कल्पना की है, उन्होंने भी प्रायः सामान्य आवश्यकताओं की वस्तुओं के सम्बन्ध में अंशदान या राशनिंग व्यवस्था को अपेक्षित माना है। किन्तु ऐसे आदर्श समाज के लिए भी अपरिमित रूप से समृद्ध होने की सम्भावना नहीं है। अस्तु, उस समाज पर व्यक्ति की कुल माँग, अधिकार या स्वत्व को किसी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर ही सीमित रहना होगा। और चूंकि व्यक्तिगत रुचियों और आवश्यकताओं में

अनुमानतः भेद बना ही रहेगा, लोगों को अपनी माँग के सम्बन्ध में किसी अंश में स्वेच्छा और स्वतंत्रता बरतने की स्वीकृति देनी ही होगी। दूसरे शब्दों में, किसी-न-किसी प्रकार की मुद्रा—अर्थात् वास्तविक आय का सामान्य प्रमाण-पत्र—जिसकी व्याख्या और प्रशस्ति व्यक्ति के हाथ में होगी सदैव आवश्यक बनी रहेगी। निष्कर्ष यह है कि यदि एक निर्दिष्ट उत्पादन-शक्ति को, प्रकृति के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों की एक समरस राशि को अथवा व्यक्तिगत संतोष को यथासंभव अधिकतम सीमा तक पहुँचना है तो मुद्रा की आवश्यकता मूलभूत रूप में बनी रहेगी।

§४. **उत्पादक को मुद्रा से लाभ** (The Advantage of Money to the Producer)—मुद्रा से दूसरा बड़ा लाभ यह है कि उत्पादक के नाते मनुष्य का ध्यान वह उसके कार्य-व्यापार—उत्पादन—पर केंद्रित करती है और इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं में सामान्य रूप से वृद्धि करने में सहायक होती है और इसी में समाज की वास्तविक आय निहित है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो वस्तुओं में भुगतान करने की परम्परा से मुद्रा में भुगतान करने की क्रिया में जो परिवर्तन आया है वह कला-कौशल एवं व्यवसायों के विभेदीकरण (differentiation) से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है और तार्किक दृष्टि से इस घनिष्ट सम्बन्ध को समझना कठिन नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वस्तुओं के वदले उत्पादन तथा अपने उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं के लेने-देने में ही अपनी शक्ति एवं समय का एक वहुत वड़ा अंश खर्च करना पड़े तो श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण (जिन पर हमारी आर्थिक व्यवस्था आधारित है) असंभव हो जायेंगे।

आज जो मुख्यतः वड़े पैमाने की 'पूँजीवादी' उत्पादन-प्रणाली प्रचलित है, उस पर यह बात विशेप रूप से घटती है। यह प्रणाली जिन विभिन्न रूपों को ग्रहण करती है, उन पर अधिक विस्तार के साथ दूसरे ग्रंथ में विचार किया जाएगा, किन्तु इस समय तो हमारे प्रयोजन

के लिए इतना कहना ही पर्याप्त और संगत होगा कि 'पूँजीवादी' उत्पादन पद्धति वह पद्धति है जिसके अन्तर्गत बहुत से मजदूर मजदूरी के लिए किसी पूँजीपति के आदेशानुसार काम करते हैं, जिसपर उनके सम्मिलित उत्पादन की बिक्री का तथा उससे जो प्राप्ति होती है उसके एक भाग को अलग-अलग मजदूरों में वितरण करने का उत्तर-दायित्व होता है। अब यदि प्रत्येक बड़ा पूँजीपति, उदाहरण के लिए लोहे के किसी कारखाने का मालिक या किसी रेलवे कंपनी का मैने-जिंग डाइरेक्टर अपने यहाँ काम करने वाले मजदूरों के लिए उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप सभी वस्तुओं का एक स्टोर खोले और फिर उन वस्तुओं को मजदूरों में बाँटे तो व्यावसायिक दृष्टि से यह असहनीय होगा। कुछ अवस्थाओं में अवश्य (जैसा कि अनुभव-सिद्ध है) इस प्रकार का प्रबन्ध आंशिक रूप में किया जा सकता है, या तो इसलिए कि इस प्रकार का प्रबन्ध पूँजीपति के लिए अनुचित लाभ का साधन होता है (जैसे प्राचीन वस्तु-विनिमय-प्रणाली में होता था), या इसलिए कि इससे मजदूरों को विशेष प्रोत्साहन मिलता है (जैसे कि जर्मनी में कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए १९१९ में विशेष रूप से मक्खन के रूप में मजदूरी देने की व्यवस्था थी), या जब यह व्यवस्था दोनों पक्षों के लिए लाभप्रद होती हो (जैसे घर के नौकरों के सम्बन्ध में)। पर सामान्य रूप से यदि देखा जाय तो पूँजीपति के लिए अपने मजदूरों को मुद्रा में ही मजदूरी देना अधिक व्यावहारिक और सुगम है, और मजदूर इसे इस कारण स्वीकार करते हैं कि उन्हें इस बात का विश्वास होता है कि वे मुद्रा के द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। अतः मुद्रा का अस्तित्व श्रम-विभाजन व्यवस्था के विशेष विकास के लिए आवश्यक है, न केवल उनके लिए जो विभिन्न कला-कौशलों का काम करते हैं, किन्तु उनके लिए भी जो योजना बनाते हैं, कार्य आरम्भ करते हैं, प्रबन्ध नियन्त्रण रखते हैं तथा उनके लिए भी जो नित्य प्रति का सांसारिक कार्य-व्यापार

करते हैं। मुद्रा के लिए यह गौरव की बात है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है। यहाँ जिस बात पर वल दिया गया है वह यह है कि जहाँ तक पूँजीवादी उद्योग-व्यवस्था भौतिक उन्नति का अनिवार्य साधन है, वहाँ तक मुद्रा का महत्व भी कम गौण नहीं।

मुद्रा का तीसरा वड़ा लाभ उसके दूसरे लाभ से अन्यतम रूप से सम्बद्ध है। वह यह कि मुद्रा के द्वारा सभी प्रकार के ऋण देने तथा अग्रिम भुगतान करने में सहायता मिलती है। मजदूरी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, वस्तुत: एक प्रकार का अग्रिम भुगतान ही है जब तक उत्पन्न की जाने वाली वस्तुएँ अन्तिम रूप से परिष्कृत अवस्था में तैयार न हो जायँ पूँजीपति उन्हें खपा नहीं सकता, किन्तु जो मजदूर इन वस्तुओं पर आरम्भिक अवस्था से ही काम कर रहे हैं, उन्हें जीविका के लिए कुछ चाहिए ही। मुद्रा के द्वारा इस दिशा में प्रबन्ध करने में सहायता मिलती है। मुद्रा के अस्तित्व के कारण एक वस्तु का व्यापारी दूसरी वस्तु के व्यापारी के साथ अग्रिम लेन-देन करने में भी सरलता अनुभव करता है। यही बात साधारण जनता की बचत के विनियोग और ऋण देने के सम्बन्ध में लागू होती है। उधार देने या बचाने का अन्तिम अवस्था में अर्थ होता है वास्तविक वस्तुओं का उधार देना या बचाना जो बिना मुद्रा के भी सम्भव हो सकता है, पर जहाँ तक उनके लिए हम व्यक्तियों पर निर्भर रहते हैं मुद्रा की सहायता के विना बड़े पैमाने पर उन्हें उपलब्ध करना कठिन एवं कष्ट-साध्य होगा। इस कारण भी मुद्रा का होना हमारी आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के लिए आवश्यक प्रतीत होता है—ऐसी उत्पादन-प्रणाली जो व्यक्ति की उस इच्छा पर आधारित है जो स्वयमेव अपनी वस्तुओं पर से अपने अधिकार दूसरे को अर्पित कर देती है—इस आशा से कि वह व्यक्ति या और कोई अन्य व्यक्ति भविष्य में उसका भुगतान कर देगा।

§५. उधार देने और बचाने के ऊपर मुद्रा का आवरण (The

Monetary Veil over Lending and Saving)—मुद्रा का यह तीसरा बड़ा लाभ उसके दो संकटों और त्रुटियों में से एक के साथ सम्बद्ध है। उधार देने और बचाने की क्रियाओं से प्रकट है कि वे मुद्रा के आवरण से ढकी हैं, और आवरण के पीछे यथार्थतः जो कुछ होता है, वह प्रायः उससे भिन्न होता है, जो आम तौर पर होता हुआ दिखाई देता है। कभी-कभी मुद्रा-प्रणाली इस प्रकार काम करती है कि लोगों की उधार देने और बचाने की इच्छा निष्क्रिय और निष्फल हो जाती है। परिणामस्वरूप हजारों की संख्या में लोग बेकार हो जाते हैं—ऐसे लोगों के होते हुए भी जिनमें मुद्रा बचाने की इच्छा और सामर्थ्य दोनों हैं जिसके बूते पर लोगों को काम मिल सकता है। मुद्रा-प्रणाली को एक प्रकार का पक्षाघात हो जाता है और तद्स्वरूप सारा औद्योगिक कार्य-व्यापार निष्क्रिय और विमूढ़ होने लगता है।

कभी कभी मुद्रा-प्रणाली इस प्रकार काम करती है कि ऐसा बोध होने लगता है मानो वस्तुएँ उधार दी जा रही हैं, जबकि वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए जब रचनात्मक उद्योगों में जैसे इस्पात, जहाज, इन्जिनियरिंग आदि के उद्योगों में तेजी आती है, तो इन उद्योगों के पूंजीपति मजदूरों को अधिक पारिश्रमिक का प्रलोभन देने लगते हैं। यह तो पहले समझाया जा चुका है कि इस प्रकार की मजदूरी वस्तुतः एक प्रकार का अग्रिम भुगतान ही है। पूंजीपति यह अग्रिम भुगतान इस अनुमान से करता है कि लोग मकान, जहाज आदि तैयार होने वाली वस्तुओं का क्या मूल्य ठहरा-वेंगे। जहाँ तक मजदूरों का प्रश्न है, वे आवश्यक तथा रीति-रिवाजों और आराम के पदार्थों की प्राप्ति के लिए मुद्रा के रूप में यह 'अग्रिम भुगतान' चाहते हैं, किन्तु एक मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत यह बात कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि जिस रफ्तार से मजदूरों को मज-दूरी चुकायी जा रही है, उसी रफ्तार से वस्तुओं का उत्पादन भी हो

रहा है । अत: ऐसी स्थिति आ सकती है, जबकि उद्योग-धंधे चढ़ती पर हों और मजदूरी ऊँची हो, किन्तु जीवन की आवश्यकताएँ कम हों और तब समाज में अशांति और हलचल पैदा होती है । यदि प्रत्येक पूँजीपति को कोई उद्योग-धंधा आरम्भ करने से पूर्व अपने मजदूरों के लिए स्वयं खाने, पीने, पहनने, मनोरंजन आदि बातों का प्रबन्ध करना जरूरी हो (जैसे कि सभ्यता से सैंकड़ों मील दूर एंडीज (Andes) में रेलें बिछाने के काम के साथ पूँजीपति के लिए जरूरी हो सकता है) तो यह व्यतिक्रम उत्पन्न नहीं होगा, किन्तु निस्संदेह उस परिस्थिति में औद्योगिक उन्नति अवश्य बहुत कठिन और मंद पड़ जायगी। जैसी अवस्था अब है, सुविधा से सब प्रकार के अग्रिम भुगतान मुद्रा में हो सकने के कारण, भौतिक प्रगति का पथ प्रशस्त होता जाता है । इसका परिणाम यह हुआ कि साधारण जनता मुद्रा में (जो वस्तुओं की प्राप्ति का प्रमाण-पत्र मात्र है और सम्भव है वे वस्तुएँ उपलब्ध भी न हों) और वस्तुओं में भेद नहीं कर पाते, और इस प्रकार कितनी ही कठिनाइयाँ एवं निराशाएँ पाल बैठते हैं । एडम स्मिथ ने एक बार मुद्रा की तुलना एक ऐसी सड़क से की थी जिससे होते हुए सारे जिले की उपज बाजार पहुँचती है, पर जो स्वयं किसी वस्तु का अंश-मात्र भी उत्पन्न नहीं कर सकती । कोई भी व्यक्ति इतना मूर्ख नहीं होगा जो सड़क का भक्षण करना चाहेगा, किन्तु आदमी को सदैव इस बात पर आश्चर्य होता है कि वह मुद्रा को खा नहीं सकता—तुर्कों के सम्बन्ध में भी तो यह कहा जाता है कि प्रत्येक वर्ष सर्दी आने पर वे विस्मय में पड़ जाते थे ।

§६. **मौद्रिक अस्थिरता और सम्पत्ति का वितरण** (Monetary Instability and the Distribution of Wealth)—मुद्रा का दूसरा अवगुण उसके पहले दोष से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है, और वह यह कि मुद्रा का मूल्य सामान्य परिस्थितियों में पूर्णत: स्थिर नहीं रहता और विशेष परिस्थितियों में तो उसमें

तीव्र व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाता है। 'मुद्रा के मूल्य' से हमारा क्या तात्पर्य है, इस पर तो हमें गंभीर विचार करना ही पड़ेगा, पर इस समय हम इसकी व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं : मुद्रा का मूल्य मुद्रा की वह शक्ति है जिसके द्वारा इच्छित वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। इस समय हमें यह नहीं मान बैठना चाहिए कि सभी अवस्थाओं में मुद्रा का मूल्य पूर्णत: स्थिर रहना वांछनीय है, किंतु इतना तो बिना किसी विशेष कठिनाई के कहा जा सकता है कि मुद्रा के मूल्य में बहुत बड़े और अलक्षित परिवर्तन हानिकारक होते हैं, और तो और अपेक्षाकृत छोटे परिवर्तन भी कितनी ही प्रकार की कठिनाइयाँ खड़ी कर देते हैं। इस विषय पर हम कुछ आरंभिक विचार करेंगे।

हम सब (भूमिपति से लेकर श्रमिक तक) इसीलिए जी पाते हैं क्योंकि अन्य लोगों को हमारी 'सेवाओं' की आवश्यकता होती है। यहाँ 'सेवाओं' को हम इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं कि उससे हमारी अधिकृत वस्तुओं का भी बोध होता है। यदि अन्य लोगों की मुद्रा की क्रय-शक्ति में उतना ही परिवर्तन हो जितना कि हमारी मुद्रा की क्रय-शक्ति में होता है तो कोई कारण नहीं कि इस क्रय-शक्ति के उतार-चढ़ाव से हम परेशान हों। किन्तु वास्तव में इस प्रकार नपे-तुले रूप में परिवर्तन नहीं होते। कुछ लोगों को अपनी सेवाएँ मुद्रा के रूप में ऐसी शर्तों पर बेचनी पड़ती हैं जो बहुत पहले से ही या तो कानून द्वारा या लोक-रीति द्वारा निर्धारित होती हैं। अन्य लोग आसानी से या बाध्य होकर अपनी सेवाओं के मूल्य में परिवर्तन करते हैं। प्रथम वर्ग के व्यक्तियों को स्पष्टत: मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होने से हानि होती है (चूंकि पहली अवस्था में उन्हें अपनी इच्छित वस्तुओं पर अप्रत्याशित रूप से अधिक और दूसरी अवस्था में कम अधिकार प्राप्त होता है)। दूसरे वर्ग के लोगों को मुद्रा के मूल्य में ह्रास होने से लाभ और वृद्धि होने से हानि होती है। कारण, वे उन लोगों की सेवाओं का, चाहे उत्पादन बढ़ाने के लिए या अपने उपभोग के लिए,

उपयोग करते हैं जिनका पारिश्रमिक मुद्रा से बँधा होता है जबकि उनका पारिश्रमिक परिवर्तनीय होता है। इसलिए जब तक मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तन पहले से ही लोग जान लें तब तक थोड़े-से परिवर्तन से ही इन दो वर्गों के बीच समाज की वास्तविक आय का थोड़ा-बहुत पुर्नवितरण अवश्य ही हो जाता है। और यदि मुद्रा के मूल्य में काफी लम्बे समय के लिए कोई तीव्र ह्रास हो (जैसा कि युद्ध के बाद यूरोप के बहुत-से देशों में हुआ था), तो पहले वर्ग के बहुत-से व्यक्ति अति निर्धन और नष्टप्राय ही हो जावेंगे।

युद्ध के पहले यह लगभग निश्चित रूप से बताया जा सकता था कि इन दो समुदायों में किन श्रेणियों के लोग आते हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम समुदाय श्रमजीवियों, पेशेवर व्यक्तियों (जैसे सरकारी कर्मचारी व अध्यापक) तथा उन व्यक्तियों का था जो सरकार को या अन्य औद्योगिक कम्पनियों को किसी निर्दिष्ट व्याज पर ऋण देते थे। दूसरा समुदाय उन व्यवसायी वर्गों का था जिनकी आय उद्योग-धंधे खोलने, योजना बनाने तथा वस्तुओं के उत्पादन एवं विक्रय पर नियंत्रण रखने से प्राप्त होती थी, क्योंकि जहाँ श्रम और पूँजी की प्राप्ति के लिए उनकी मौद्रिक लागत अपेक्षाकृत स्थिर थी, वहाँ उनकी मौद्रिक आय में, विक्रीत वस्तुओं के साथ-साथ उतार-चढ़ाव होता था। आज भी यह साधारण सिद्धान्त मूलतः लागू होता है, किन्तु कुछ तो मजदूरों की चंद बातों में शक्ति बढ़ जाने के कारण और कुछ राज्य के छुट-पुट हस्तक्षेपों के कारण स्थिति में काफी पेचीदगी आ गयी है। १९१४ से १९२० के बीच मुद्रा के मूल्य में जो तीव्र ह्रास आया और तत्पश्चात् उसके मूल्य में उसी अनुपात से जो वृद्धि हुई उससे और तो और इंगलैंड में भी आय के वितरण में इतना महान् और स्वच्छन्द परिवर्तन आया कि पूछिए मत। यह पुर्नवितरण केवल विभिन्न सामाजिक और औद्योगिक वर्गों के बीच ही नहीं, किन्तु एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों के बीच भी हुआ। यदि दैवयोग से पाठक रेलवे या

जहाज का हिस्सेदार है तो वह यह कहेगा कि इन परिवर्तनों से अंततः उसे हानि हुई है; किन्तु यदि वह मोटर तैयार करता है अथवा रेलवे कुली है तो भले ही वह दुनिया को न कहे, मन-ही-मन यह अवश्य सोचेगा कि ये परिवर्तन उसके लिए अहितकर नहीं हुए। भावी परिवर्तनों के प्रति उसका दृष्टिकोण उसके व्यवसाय एवं औद्योगिक क्षेत्र में उसकी स्थिति पर निर्भर रहेगा।

§७. **मौद्रिक अस्थिरता एवं सम्पत्ति का उत्पादन (Monetary Instability and the Creation of Wealth)**—किन्तु यहीं इतिश्री नहीं है। यदि मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता का प्रभाव केवल सम्पत्ति-वितरण के ढंग पर ही पड़ता, तो वह इतने बुनियादी महत्व का नहीं होता, कारण यद्यपि अनुवर्त्ती परिवर्तनों का सामाजिक न्याय से विशेष सम्बन्ध न भी हो, तो भी यह आवश्यक नहीं कि उनसे समाज के कुल आर्थिक कल्याण को हानि पहुँचे ही—यही नहीं, सम्भव है आर्थिक कल्याण में विशेष वृद्धि हो। कुछ लोगों की हानि दूसरों के लिए हित की बात हो सकती है, और ये दूसरे लोग साधारण तौर पर अधिक जरूरतमंद और योग्य भी हो सकते हैं। किन्तु वास्तव में मुद्रा के मूल्य में अकस्मात् कोई बड़ा परिवर्त्तन या दीर्घकाल तक उसमें अस्थिरता का प्रदर्शन न केवल सम्पत्ति के वितरण को, किन्तु उसके उत्पादन को भी हानि पहुँचाता है, क्योंकि इससे उन व्यावसायिक धारणाओं और लेखों-जोखों को आघात पहुँचता है जिन पर हमारे समाज का आर्थिक ढाँचा आधारित है। यह आर्थिक ढाँचा विशेष रूप से ठेके (contract) की व्यवस्था पर निर्मित है, अर्थात् इस तथ्य पर कि लोग एक-दूसरे के साथ स्वेच्छापूर्वक भविष्य में कोई निश्चित काम करने के लिए वचनबद्ध हो जाते हैं—और उस कल के काम के लिए आज ही मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक तय कर लिया जाता है। मुद्रा के मूल्य में तीव्र या दीर्घकालीन परिवर्तन आने से इस प्रकार की कार्य-व्यवस्था तैयार या

स्वीकार करने में लोगों का विश्वास हिल उठता है। निस्संदेह यह सोचा जा सकता है कि इन ठेकों को मुद्रा के अतिरिक्त और किसी वस्तु के रूप में निर्धारित किया जाय, कुछ लोगों का तो यह भी विचार है कि निर्बन्ध ठेके के अतिरिक्त अन्य किसी व्यवस्था पर हमारा विश्वास जमना चाहिए, उदाहरणस्वरूप किसी तानाशाही उद्योगपति के आदेश या किसी परोपकारी महानुभाव के अनुग्रह पर समाज की गतिविधि आश्रित हो। किन्तु जब तक समाज में ठेके की व्यवस्था बनी हुई है, तब तक मुद्रा के मूल्य में व्यतिरेक विपदाओं से खाली नहीं है।

किन्तु हम लोगों में से किसीका भी जीवन पूर्णतः ठेके की कटी-छटी सीमाओं में ही नहीं समाया हुआ है। हम नाप-जोख, आशा-विश्वास, के सहारे भी जीते हैं। इन सबको भी मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता से, और उसके दुष्परिणामों को रोकने के लिए किये गये प्रयत्नों से (जो स्वयं अपूर्ण और अधकचरे ही होंगे) धक्का पहुँचता है। क्योंकि समाज भले ही ठेके का समादर करे, अनिश्चित आशाओं के प्रति उसकी आस्था उतनी उदार नहीं होती। उदाहरण के लिए युद्ध के दिनों में ग्रेट ब्रिटेन में जो स्थिति अनिवार्य रूप से खड़ी हो गयी थी, वह कोई सौभाग्य की बात नहीं थी। ब्रिटेन के वे पूँजीपति जो निर्विवाद रूप से देश की सबसे अधिक सेवा कर रहे थे, जैसे कोयले का प्रबन्ध, रेलवे यातायात का प्रबन्ध अथवा मकान की व्यवस्था, वे ही राज्य और श्रमिक संघ की तीव्र आलोचना के शिकार हुए। निस्सन्देह वह स्थिति काफी अजीब-सी थी। जिस प्रकार जो उद्योग-धंधा जितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, उसके कर्मचारियों पर भी उतना ही उत्तरदायित्व है। यदि कर्मचारी अपनी स्थिति सुधारने के लिए वहाँ प्रयत्न करे, हड़ताल करे, तो वह लोगों की घृणा का पात्र बनता है, 'क्योंकि 'समाज उसके पास वादी है'। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति यथार्थतः उपयोगी और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में अपनी बचत को लगाता है, या बुद्धि खर्च करता है, या उसकी जोखिम उठाता है तो मुद्रा के मूल्य

में ह्रास होने पर उसे क्या हानि होती है, इस दिशा में राज्य को सावधानी बरतनी पड़ती है। पदवी के साथ उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है; किन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, यदि वे लोग जिन पर उत्तरदायित्व होता है कभी-कभी चिड़चिड़े और अन्यमनस्क हो जाएँ। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य में व्यतिरेक और तत्सम्बन्धी उपाय दोनों उन अनिश्चित किन्तु संगत आशाओं-धारणाओं पर कुठाराघात करते हैं जिनमें उद्योग-धंधों को अपने जीवन का महत् प्राणवान अंश प्राप्त होता है।

केवल यही बात नहीं है कि मुद्रा के मूल्य में गिरावट से ही आशाओं-धारणाओं को आघात पहुँचता है और फलप्रद कार्य-व्यापार हतोत्साहित होते हैं; इससे भी अधिक स्पष्ट रूप में दीर्घकाल तक मुद्रा के मूल्य में वृद्धि से हानि होती है। जिनके हाथ में उद्योग-धंधे और व्यवसाय हैं उनको इस वृद्धि से निराशा होती है, चोट पहुँचती है और फलस्वरूप सम्पत्ति के उत्पादन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है और अनेकों व्यक्तियों के जीवन संकट में पड़ जाते हैं।

यह सब किस प्रकार घटित होता है, इस पर हम विचार करें। मूल्यों के स्तर की अधोमुखी गति बिजली की तरह संघर्ष में जूझते हुए व्यक्तियों की पंक्ति पर ज्वलंत प्रकाश डाल जाती है—तब दिखाई पड़ता है किस प्रकार लोग अपने लेखे-जोखे, वचन-ठेकों में, मानो कँटीले तारों में, फँसे हुए हैं। उनमें एक भी यह नहीं बता सकता कि अंत कब और कैसा होगा। कुछ समय तक तो प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक चेष्टा के साथ अपनी वस्तुओं के भाव को बनाए रखने का प्रयत्न करता है। किंतु अन्ततः मूल्य के प्रवाह में उसे आना ही पड़ता है और इससे पूर्व कि महानाश हो वह अपनी वस्तुओं से उद्धार पाने की यथासम्भव चेष्टा करता है। प्रारम्भ से ही वह एक रास्ता, जो उसके लिए खुला होता है, पकड़ लेता है; परेशानी पैदा करने वाली वस्तुओं को वह नहीं खरीदता, और जो लोग उसे माल पहुँचाते हैं उनसे वह यही अनुरोध करता है कि वे उसका बोझ न बढ़ाएँ। उत्पादक को

इस प्रकार अपनी वस्तुओं की खपत का मार्ग संकुचित होता हुआ नजर आता है, और जो तरीके वह अपना सकता है, अपनाता है। वह यदि चतुर और अनुभवी व्यक्ति है, और यदि उसने धन जोड़ रखा है, तो कुछ काल के लिए वह व्यापार से अवकाश ले लेता है। तब उसे या तो समुद्र-यात्रा की सूझती है या लोक-सभा का सदस्य बनने की। यदि वह युवक, महत्वाकांक्षी या आदर्शवादी है तो जिस तरह गाड़ी चले और झंडा फहराता रहे वह इसी उद्योग में रहता है। यदि वह एक औसत दर्जे का उत्पादक है तो वह यही कहेगा कि उसकी जो राय पहले थी वह अब भी है, अर्थात् उसके व्यवसाय की वित्त सम्बन्धी स्थिति से मजदूरों का कोई सरोकार नहीं—हाँ मजदूरों में वित्त-सम्बन्धी इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वे तात्कालिक श्रमिक संघ की निरर्थकता को समझ सकें। किसी भी अवस्था में देर या अबेर वह भाग्य के अधीन और न्यूनाधिक अंश में अपने उत्पादन की मात्रा को कम करता है। इस प्रकार दो बातें घटती हैं जिनसे (ऐसा विश्वास है) अन्य नक्षत्रों (planets) के निवासियों को विशेष आनन्द मिलता है। जान-बूझ की दुनिया को अपना जीवन-स्तर निम्न करना पड़ता है जबकि उसके लिए उससे अधिक ऊँचा स्तर उपलब्ध प्राकृतिक एवं पूँजीगत साधन प्रस्तुत कर सकते हैं। यह तो वही बात हुई कि अपने मुँह का मखौल करने के लिए आदमी अपने आप अपनी नाक काट ले। जिन लोगों को काम करने की इच्छा है और तत्सम्बन्धी विशेष अनुभव भी है, वे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, उत्पादन में वृद्धि के सम्बन्ध में पत्रकारों के नारों की रट लगाते हुए वे सड़कों के चक्कर काटते हैं और उनके अन्तस् में घृणा और वैर के भाव गहरे होते जाते हैं।

इस प्रकार मुद्रा, जो मानवता के लिए कितनी ही दृष्टियों से वरदान है, नियंत्रण के अभाव में हमारे लिए संकट और अशांति का स्रोत भी हो सकती है। किंतु उस पर किस प्रकार नियंत्रण रखा

जाय, इस सम्बन्ध में उचित और संगत धारणा बनाने से पूर्व उसे समझना आवश्यक है। इस पुस्तक के अगले तीन अध्यायों में इस विषय से सम्बद्ध दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाएगा। पुस्तक के अंतिम दो अध्यायों पर पहुँचने पर ही हम मुद्रा-नीति के महत् विषय पर विचार कर सकेंगे।

अध्याय :: २

मुद्रा का मूल्य

(The Value of Money)

हम्टी डम्पटी ने कुछ तिरस्कार के साथ कहा, "जब मैं किसी शब्द का प्रयोग करता हूँ तो उसका वही अर्थ होता है जो मैं उससे व्यंजित कराना चाहता हूँ—न कम, न अधिक।"

"पर प्रश्न यह है", एलिस ने कहा, "क्या तुम शब्दों के विभिन्न अर्थ बोध करा सकते हो ?"

"प्रश्न यह है", हम्टी डम्पटी ने कहा, "कि कौन प्रधान है—बस यही।"

—थ्रू दि लुकिंग ग्लास

§१. मुद्रा के मूल्य की परिभाषा (What is meant by the Value of Money)—मुद्रा के मूल्य का ठीक वही कुछ अर्थ होता है जो अन्य किसी वस्तु, जैसे रोटी व कपड़े, के मूल्य का होता है। दूसरे शब्दों में, इसका आशय "वस्तु साधारण" की उस मात्रा से है जो मुद्रा की एक इकाई के वदले में दी जाती है। किंतु इस बात के कारण एक कठिनाई पैदा होती है कि सुविधा के लिए हम रोटी व कपड़े के मूल्य को मुद्रा में व्यक्त किया करते हैं, लेकिन जैसा कि स्पष्ट है हम मुद्रा के मूल्य को स्वयं मुद्रा में ही प्रकट नहीं कर सकते। इस कारण पाउण्ड-स्टर्लिंग के मूल्य को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है कि उन सब विभिन्न वस्तुओं की एक-एक करके गिनती की जाय जो इसके द्वारा खरीदी जा सकती हैं। निस्सन्देह ऐसा करना बहुत असुविधाजनक होगा। फिर भी, जैसा कि अभी हम कुछ देर में

देखेंगे, दो समय व स्थानों के बीच पाउण्ड-स्टर्लिंग के मूल्य के अन्तरों को व्यक्त करने के लिए कुछ रीतियाँ हैं, यद्यपि वे पूर्णरूप से सन्तोष-जनक नहीं हैं। लेकिन कुछ भी हो कठिनाई केवल व्यक्त करने की है। इसका यह अर्थ नहीं कि जब हम मुद्रा के मूल्य की चर्चा करते हैं, तब हम "मूल्य" शब्द का उस भाव से भिन्न प्रयोग करते हैं जो रोटी व कपड़े के मूल्य के साथ जुड़ा होता है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य कठिनाई भी है। वह यह कि "वस्तु साधारण" का ठीक-ठीक क्या अर्थ है ? सभी लोग अपनी आय को खर्च करते समय मुद्रा का प्रयोग करते हैं—अर्थात् उन वस्तुओं और सेवाओं को खरीदते हैं जो साधारण उपयोग में समाविष्ट होती हैं। किन्तु इस प्रकार की उपभोग्य-वस्तुएँ और सेवाएँ देश की वास्तविक आय या उत्पत्ति का एक अंश-मात्र हैं। इसमें नयी पूँजीगत वस्तुओं का भी समावेश होता है, जैसे इमारत, मशीनरी इत्यादि जिनको व्यवसायीगण खरीदते हैं। और फिर व्यवसायीगण अन्य बातों के लिए भी मुद्रा का प्रयोग करते हैं, जैसे कि कच्चे माल के खरीदने में, श्रम के अवक्रय अथवा भूमि और मकान जैसे विद्यमान पूँजीगत माल के विनिमय में। इस कारण मुद्रा के मूल्य के विषय में बातचीत करते समय हमें स्पष्ट कर देना चाहिए कि "मुद्रा-मूल्य" शब्द का हम किस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। इसका प्रयोग क्या हम केवल उन वस्तुओं और सेवाओं के अर्थ में कर रहे हैं जो साधारण उपयोग में समाविष्ट होती हैं, या उन सब नयी उत्पादित वस्तुओं के अर्थ में जो देश की वास्तविक आय व उत्पत्ति होती हैं, अथवा क्या हम इसे उन सब प्रकार की वस्तुओं के लिए ग्रहण कर रहे हैं जिनका विनिमय मुद्रा के माध्यम द्वारा होता है। हम इन तीनों विचारों को क्रमशः मुद्रा का "उपभोग्य मूल्य", मुद्रा का "अन्य मूल्य" और मुद्रा का "विनिमय-मूल्य" कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक चौथे विचार का भी उल्लेख कर देना अच्छा होगा, यद्यपि काफी आगे चलकर ही इसका प्रयोग किया जायगा, वह है मुद्रा

का "श्रम-मूल्य," अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार के श्रम की मात्रा जो मुद्रा की एक इकाई द्वारा खरीदी जा सकती है।

§२. **मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन** (Changes in the Value of Money)—मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों का माप बहुत व्यावहारिक महत्व का विषय बन गया है। युद्धकालीन परिर्तवनों के संबंध में जो निन्दनीय और अनर्गल कथन खड़े हो चले थे उन्हें बहुत से अंग्रेजों से भी यदा-कदा समर्थन मिलता रहा, जैसे "एक पाउण्ड कुल ८ शिलिंग के बराबर है," अथवा "एक क्राउन केवल उतना ही कार्य करता है जितना कि एक शिलिंग को करना चाहिए।" अब भी बहुत-से अंग्रेज, मुख्यत: सिविल और रेलवे कर्मचारी, मुद्रा-मूल्य में परिवर्तनों के कुछ सरकारी अनुमान के अनुसार अपनी मुद्रा-आय में परिवर्तन होते देखते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश यह विषय बहुत सैद्धान्तिक कठिनाई का भी है। वास्तव में यह गणितज्ञों का विशिष्ट क्षेत्र है जहाँ इन्होंने अकथनीय युक्ति व कल्पनाशक्ति लगायी है। एक सुविख्यात गणितज्ञ अर्थशास्त्रवेत्ता तो यहाँ तक जा चुके हैं कि उन्होंने मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनों के सामने की विभिन्न रीतियों के प्रतिनिधि स्वरूप ४४ बीजगणित के सूत्रों की एक प्रकार से तुलनात्मक जाँच की है, और उनकी कुछ विशेषताओं के आधार पर उनको अंक भी दिये हैं।| निस्सन्देह इनमें से कुछ तो अत्यन्त असन्तोषजनक है। यह सब होते हुए भी इस विषय की कुछ कठिनाइयाँ बहुत शिक्षाप्रद हैं, और ये उन आक्षेपों में निहित भी हैं जो साधारण लोग प्रचलित अनुमानों पर करते हैं। अस्तु, इस कारण इन पर कुछ ध्यान देना लाभप्रद होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्या वस्तुविशेष की कीमतों में परिवर्तन दिखाने वाले अंकों के आधार पर मूल्य-स्तर का सूचक-अंक (Index Number) तैयार करने की है जिससे कि एक ही दृष्टि में मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनों का बोध हो सके। इस सूचक-अंक में वृद्धि यह बतलायेगी कि मुद्रा का मूल्य तदनुसार गिर गया है—अर्थात् मुद्रा की

एक इकाई के बदले में अन्य वस्तुएँ कम मात्रा में प्राप्त होंगी। इसके विपरीत सूचक-अंक का गिरना मुद्रा के मूल्य में समरूप वृद्धि प्रदर्शन करेगा।

सूचक-अंक के बनाने में जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ होती हैं उन पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे भली प्रकार स्पष्ट हैं। यद्यपि यह कार्य अब पहले की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक किया जा रहा है, फिर भी थोक बिकने वाली कुछ प्रधान वस्तुओं की कीमतों को छोड़कर अन्य कीमतों के विषय में ठीक-ठीक आँकड़े प्राप्त करना सदैव सुगम नहीं होता। और फिर यह निश्चय करना कि जिन वस्तुओं की कीमतों की हम तुलना कर रहे हैं वे एक ही प्रकार की वस्तुएँ हैं सरल नहीं है। बस (bus) की सवारी का ही उदाहरण लें। एक तो वह 'बस' की सवारी है जबकि हम बैठे रहते हैं, दूसरी वह जबकि हमें अपने बैठने का स्थान बार-बार छोड़ते रहना पड़ता है। किन्तु सामान्य कीमतों के लिए सूचक-अंक बनाने में जो आधारभूत कठिनाइयाँ होती हैं, उन पर ध्यान देना अधिक लाभप्रद होगा।

सूचक-अंक बनाने से पहले सर्वप्रथम हमारे लिए स्पष्ट रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि सूचक-अंक को किस उद्देश्य की पूर्ति करनी है अर्थात उनके बनाये जाने का क्या उद्देश्य है। यदि उद्देश्य बहुत ही साधारण रूप में मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनों को दिखाना है, तो इसमें भूमि, मकान, प्रतिभूतियाँ और इस प्रकार की सभी वस्तुओं का समावेश होना आवश्यक है जिनका आर्थिक जगत में विनिमय होता है। यदि दूसरी ओर हम साधारण लोगों के निर्वाह-व्यय को मालूम करना चाहते हैं तो हमें इन वस्तुओं को छोड़कर केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को शामिल करना होगा जो साधारण उपयोग में समाविष्ट होती हैं। साथ ही हमें इस बात को भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि जिस निर्वाह-व्यय के परिवर्तन का अनुमान लगाया जा रहा है, वह किसका निर्वाह-

व्यय है। उदाहरण के लिए जो सूचक-अंक श्रमिक-वर्गों के निर्वाह-व्यय में परिवर्तन दिखाने के लिए बनाया गया है, उसका प्रयोग कैम्ब्रिज के कालेज के निर्वाह-व्यय में परिवर्तन मालूम करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। किसी भी दशा में हमारे सूचक-अंक विभिन्न रुचि वाले व्यक्तियों के लिए ठीक नहीं बैठ सकते, चाहे वे एक ही प्रकार क सामाजिक वातावरण में क्यों न रहते हों। मुद्रा का मूल्य एक मद्यपान करने वाले और दूसरे न करने वाले व्यक्ति के लिए बहुत विभिन्न अंशों में बदल सकता है। अत्युत्तम रूप में भी हमारा सूचक-अंक एक काल्पनिक व्यक्ति के लिए ही ठीक बैठ सकता है, हम उस व्यक्ति को अधिक-से-अधिक प्रतिनिधिस्वरूप बनाने का प्रयत्नमात्र कर सकते हैं।

§३. **मापने की कठिनाइयाँ** (Difficulties of Measurement)—दूसरे यह निश्चित कर लेने पर कि किसी सूचक-अंक में किन चीजों को शामिल किया जाय, प्रश्न यह उठता है कि अंतिम सूचक-अंक प्राप्त करने के लिए किस रीति से अनेक वस्तुओं के मूल्य-परिवर्तनों को एक में मिलाया जाय। एक सरल सुझाव यह है कि अनेक मूल्यों के प्रतिशत परिवर्तनों का औसत निकालकर उसे सामान्य मूल्यों का प्रतिशत परिवर्तन मान लिया जाय। किन्तु एक सरल उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस सुझाव में एक जाल[1] छिपा हुआ है। विषय को सरल बनाने के लिए मान लीजिए कि दो वस्तुएँ—रोटी और शराब—एक उत्तम सूचक-अंक के लिए पर्याप्त हैं और यह भी कि हम १९०० और १९१० की परिस्थितियों की तुलना कर रहे हैं। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह उदाहरण पूर्णतः काल्पनिक है। मान लीजिये कि इस दौरान में रोटी की कीमत दुगुनी और शराब की कीमत आधी हो गयी। यदि हम १९०० में प्रत्येक कीमत को १०० मान लें तो इसका अर्थ यह हुआ कि रोटी की कीमत २०० और शराब की कीमत

१. प्रस्तुत विषय के पूर्ण वाद-विवाद के लिए पीगू रचित इकोनोमिक्स आफ वेलफेयर, भाग १, अध्याय ५ पढ़िये।

५० थी। इन दोनों कीमतों का जोड़ २०० से २५० बढ़ता है, और औसत कीमत अर्थात सामान्य कीमतों का सूचक-अंक १०० से १२५। किन्तु यदि अब हम १९१० में प्रत्येक कीमत को १०० मानें तो रोटी की कीमत ५० और शराब की २०० हो जाती है। फलस्वरूप १९०० और १९१० के बीच इन दोनों कीमतों का जोड़ २५० से घटकर २०० रह जाता है और औसत कीमत में १२५ से १०० की घटी दिखाई पड़ती है। सारांश यह है कि सामान्य कीमतों के सूचक-अंक में $\frac{१}{४}$ की वृद्धि के स्थान पर $\frac{१}{५}$ की घटी होती है। अस्तु, जिस वर्ष से हम अपनी गणना प्रारम्भ करते हैं, अथवा जिसे विशेषज्ञ आधार-काल कहते हैं, उसके अनुसार हमें पूर्णतः विभिन्न परिणाम प्राप्त होते हैं, यद्यपि स्पष्टतः इतिहास लेखक की दृष्टि से दूसरे वर्ष की तुलना में किसी एक वर्ष में कोई अधिक विशेषता नहीं होती।

परीक्षण की सुविधा के लिए इस परिणाम को एक तालिका के रूप में दिखाया जा रहा है:

	१		२	
	१९००	१९१०	१९००	१९१०
रोटी	१००	२००	५०	१००
शराब	१००	५०	२००	१००
जोड़	२)२००	२)२५०	२)२५०	२)२००
औसत	१००	१२५	१२५	१००
	+२५ प्र० श०		—२० प्र० श०	

इस सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञों का यह कहना है कि यदि हम सूचक-अंक में पर्याप्त संख्या में वस्तुओं को शामिल करें तो इस प्रकार के निरर्थक व विवेकहीन परिणाम से हमारे रास्ते में कोई विशेष अड़-चन न पड़ेगी। क्योंकि यदि वस्तुएँ बड़ी संख्या में ली गयी हैं तो उनकी कीमतों का औसत परिवर्तन सामान्य मूल्य-स्तर की दिशा का ठीक-ठीक

निर्देशन कर सकता है, और साथ ही यह परिवर्तन की सीमा या मात्रा को भी उतना ही ठीक-ठीक बता सकता है जितना कि व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए आवश्यक है। किन्तु अन्य विशेषज्ञों का कहना है और वे इस बात के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण उदाहरण देते हैं कि यह बहुत आशावादी दृष्टिकोण है और इस प्रकार का सरल सूचक-अंक हमें बहुत भ्रम में डाल सकता है, विशेषतः यदि दो वर्षों के बीच, जिनकी तुलना की जा रही है, कीमतों और अन्य परिस्थितियों में महान् परिवर्तन हुए हों। अतः जिस असंगत परिणाम पर अभी हम ऊपर पहुँचे थे उसके कारणों को मालूम करना आवश्यक है, तथा यह भी देखना चाहिए कि क्या उन कारणों को दूर किया जा सकता है।

थोड़ा विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि आधार-वर्ष चुनने के कारण जब हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचना पड़ा तब हम वास्तव में दो स्थितियों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की तुलना कर रहे थे। पहली स्थिति में हमने वस्तुओं के उस मिश्रण को लिया था जिसमें रोटी और शराब की उन मात्राओं का समावेश था जो १९०० में मुद्रा की १०० इकाइयों से खरीदी जा सकती थीं। दूसरी स्थिति में हम उस मिश्रण पर विचार कर रहे थे जिसमें रोटी और शराब की वह मात्रा शामिल थी जो १९१० में मुद्रा की १०० इकाइयों से खरीदी जा सकती थी।

हम एक बात की और कल्पना करें जिससे कि एक निश्चित उदाहरण पर पहुँच सकें। मान लीजिए १९०० में एक पाव रोटी और १ पाइण्ट शराब प्रत्येक की कीमत ६ पैंस थी, और इस कारण दोनों के मिश्रण की कीमत १ शिलिंग थी। इसके बाद मान लीजिए कि १९१० में एक पाव रोटी की कीमत एक शिलिंग और एक पाइण्ट शराब की कीमत ३ पैं० थी और इन दोनों के मिश्रण की कीमत १ शि० ३ पैं० थी, अर्थात् इस विशिष्ट मिश्रण (एक पाव रोटी+एक पाइण्ट शराब) की कीमत २५ प्रतिशत बढ़ गयी। अब हम उस मिश्रण

की कीमत को लेंगे जो १९०० में नहीं बल्कि १९१० में इन वस्तुओं पर अलग-अलग ६ पैंस खर्च करने से प्राप्त हो सकता था। स्पष्टतः यह मिश्रण इस अनुपात का होगा : $\frac{1}{2}$ पाव रोटी+२ पाइण्ट शराब। १९०० में इस मिश्रण का मूल्य १ शि० ३ पैंस था और १९१० में केवल १ शिलिंग। अर्थात् इस विशिष्ट मिश्रण का मूल्य इस काल में २० प्रतिशत कम हुआ। सामान्य मूल्य के परिवर्तन के विषय में हमारे दोनों माप सही हैं, किन्तु प्रत्येक माप सम्मिलित वस्तुओं के केवल एक विशेष मिश्रण के लिए ही ठीक है। हमारे प्रथम उदाहरण में यह वह मिश्रण है जो तुलना किये गये दोनों वर्षों में से प्रथम वर्ष में प्रत्येक वस्तु पर बराबर खर्च करने से प्राप्त हो सकता था। खर्च करने की मात्रा पेनी हो या पाउण्ड, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। हमारे दूसरे उदाहरण में लिया गया मिश्रण वह है जो दूसरे वर्ष में प्रत्येक वस्तु पर बराबर-बराबर खर्च करने पर प्राप्त हो सकता है। निस्सन्देह यह दोनों मिश्रण स्वेच्छामूलक हैं।

§४. **अस्थायी समाधान** (Provisional Solution)—अब देखना यह है कि क्या हमें वह मिश्रण मिल सकता है जो स्वेच्छामूलक न हो। एक साधारण सुझाव यह हो सकता है कि हम उस मिश्रण को लें जो वास्तव में उस वर्ष, जिसे हमने आधार माना है, विनिमय का विषय है। उदाहरणार्थ यदि हम श्रमिक-वर्गों के निर्वाह-व्यय के परिवर्तनों पर प्रकाश डालने के लिए सूचक-अंक बना रहे हैं तो हम उस मिश्रण को ले सकते हैं जिसमें सम्मिलित वस्तुओं की वह मात्रा वर्तमान हो जिसका उपयोग आधार वर्ष में एक सामान्य श्रमिक वर्ग के परिवार द्वारा हुआ है। यही अथवा ऐसा ही कार्य सूचक-अंक के द्वारा होता है जिसने युद्ध के बाद ब्रिटिश जनता का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया है। जैसे कि श्रम-मंत्रिमंडल का सूचक-अंक जिसे निर्वाह-व्यय सूचक-अंक कहते हैं, (अभी हम एक क्षण में देखेंगे कि यह लोकप्रिय व प्रचलित नाम उपयुक्त नहीं है) रेल-सम्बन्धी

मजदूरी के लिए विसूप अनुमाप का आधार प्रस्तुत करता है। जब यह कहा जाता है कि जुलाई १९१४ से सूचक-अंक ६५ प्रतिशत से बढ़ा है, तब इसका यह अर्थ होता है कि जुलाई १९१४ की तुलना में एक औसत श्रमिक-वर्ग के परिवार को उन वस्तुओं की प्राप्ति में अब ६५ प्रतिशत अधिक देना पड़ेगा जिनका उपभोग वह जुलाई १९१४ में करता था।

क्या अब हमें सामान्य कीमतों के परिवर्तनों का कोई सन्तोषजनक माप मिल गया है? खेद है कि उत्तर अब भी 'नहीं' में ही है। जब तक तुलना की गयी दो तिथियों के बीच कोई तीव्र परिवर्तन नहीं होते, तब तक यह माप काफी सन्तोषजनक हो सकता है, किन्तु यदि परिवर्तन होते हैं तो यह सन्तोषजनक नहीं है। क्योंकि उस परिस्थिति में लोग उन वस्तुओं का उपभोग सम्भवतः घटा देंगे जिनकी कीमतें सर्वाधिक गिरी हैं अथवा सबसे कम बढ़ी हैं, और उन वस्तुओं का उपभोग सम्भवतः कम कर देंगे जिनकी कीमतें सबसे कम गिरी हैं या सबसे अधिक बढ़ी हैं। सापेक्षित कीमतों में परिवर्तन होने के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी उपभोग में अन्तर पड़ सकता है, जैसा कि लड़ाई के दिनों में हुआ था। यह भी सम्भव है कि पुरानी वस्तुएँ मंडी से उठ गयी हों और नयी वस्तुएँ वहाँ आ गयी हों। सम्भव है मक्खन का ज्ञान न रखने वाली पीढ़ी ने उस पीढ़ी का स्थान लिया हो जिसे बनावटी मक्खन की भी जानकारी न थी। इन परिस्थितियों में यह मालूम करना कि उस मिश्रण की कीमत में क्या परिवर्तन आया है जिसका उपभोग आधार-वर्ष में हुआ था, केवल ऐतिहासिक महत्व का विषय रह जाता है, क्योंकि जिस मिश्रण का उपभोग बाद के वर्ष में होता है वह बिलकुल भिन्न है। इसी कारण से उपयुक्त श्रम-मंत्रालय के अंक को 'निर्वाह-व्यय-सूचक-अंक' कहना ठीक नहीं है और प्रायः लोग ऐसा महसूस करते हैं कि यह सन्तोषजनक नहीं है। उदाहरण के लिए इस सूचक-अंक का यह आशय नहीं है कि जुलाई १९१४ की तुलना में

श्रमिक-वर्ग के एक परिवार को वास्तव में जून १९२० में भोजन, वस्त्र इत्यादि की प्राप्ति में, १५० प्रतिशत अधिक खर्च करना पड़ा, बल्कि इसका अर्थ यह है कि उस परिवार को जून १९२० में वस्तुओं का ठीक वही मिश्रण खरीदने में १५० प्रतिशत अधिक खर्च करना पड़ता जो साधारणतः जुलाई १९१४ में खरीदा जाता था और जिस मिश्रण को जून १९२० में पदार्थ के रूप में (जैसे कि चीनी के सम्बन्ध में) उस परिवार के लिए खरीदना सम्भव न होता, चाहे वह खरीदना भी चाहता। आर्थिक बातों में १९१४ को एक विशेष प्रकार का पवित्र वर्ष मानने की प्रवृत्ति आज भी पायी जाती है। सभी तरह के लोग जो उस समय बहुत असन्तुष्ट थे अब एक तरह से सब काल के लिए सामान्य या मान वर्ष के रूप में उसकी ओर देखते हैं। और जब तक यह भाव व्यापक है, तब तक १९१४ में उपभोग किये गये वस्तुओं के मिश्रणों के मूल्य-परिवर्तनों के ध्यान-पूर्वक अध्ययन के पक्ष में कुछ कहा जा सकता है। किन्तु वह समय भी आयगा जब यह विचार पुराना हो लेगा। उदाहरणतः १९५० के लगभग वस्तुओं के उस मिश्रण के मूल्य को मालूम करना जिसका उपभोग १९१४ में एक श्रमिक परिवार करता था शायद ही इस बात को जानने से अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि वस्तुओं के जिस मिश्रण का उपभोग स्वभावतः एक चीन देशवासी करता है उसकी कीमत इंगलैंड में क्या होगी।

इस कठिनाई को दूर करने की एक मोटी रीति यह हो सकती है कि पहली और दूसरी तिथि में जिस मिश्रण का उपभोग हुआ है उसकी कीमत के प्रतिशत परिवर्तन को मालूम करके उसका एक औसत निकाल लिया जाय, और फिर उस औसत को सामान्य कीमतों के परिवर्तन का मापदंड मान लें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार की अन्य जीवन-सम्बन्धी रीतियाँ भी हैं, किन्तु उन पर यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं है। मुख्य बात जो यहाँ समझने की है वह सूचक-अंक के पूर्णतः पृथक् और ठीक होने की आशा करने की

नहीं है, बल्कि उस आवश्यक कठिनाई को ध्यान में रखने की है जो इसके साथ जुड़ी होती है ।

यहाँ यह स्मरण रखना लाभप्रद होगा कि विभिन्न स्थानों के बीच मुद्रा के मूल्य की तुलना करते समय भी ठीक इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है । उदाहरण के लिए युद्ध के कुछ वर्ष पूर्व इंगलैण्ड और जर्मनी के सापेक्ष निर्वाह-व्यय के सम्बन्ध में बोर्ड ऑफ ट्रेड की एक जाँच से पता चला कि इंगलैंड की तुलना में जर्मनी में वस्तुओं के मिश्रण का मूल्य, जिसका उपभोग साधारणतः एक अंग्रेज श्रमिक करता था, २० प्रतिशत अधिक था, जबकि वस्तुओं के उस मिश्रण का मूल्य जिसका उपभोग एक जर्मन करता था, केवल १० प्रतिशत ही अधिक था और भिन्न-भिन्न सभ्यता वाले देशों, जैसे इंगलैंड और केनीवल द्वीपों के बीच मुद्रा के मूल्य की तुलना करने का प्रयत्न लगभग बिलकुल निरर्थक ही होगा, क्योंकि वस्तुओं के जिस मिश्रण का लेखा-जोखा लेना होगा, वह पूर्णतः भिन्न होगा, उस मिश्रण में प्रत्येक देश के लिए ऐसी वस्तुएँ शामिल होंगी, जैसे शायद मोटर और धर्म-प्रचारक, जिन्हें दूसरे देश का कोई भी व्यक्ति या तो खरीद ही न सकेगा और यदि खरीद सकेगा तो खरीदना न चाहेगा ।

अस्तु, निष्कर्ष यह कि न तो व्यवहार में और न ही कदाचित् सैद्धान्तिक दृष्टि से मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों का ठीक-ठीक माप करना सम्भव है । फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता है, और यदि पर्याप्त सावधानी रखी जाय तो कुछ व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए उसका काफी ठीक माप हो सकता है, और उसका उपयोग किया जा सकता है । अधिकाश प्रमुख देश अब फुटकर कीमतों के सूचक-अंक प्रकाशित करते हैं जो मुद्रा के उपभोग-मूल्य के मापक माने जा सकते हैं । मुद्रा के विनिमय-मूल्य में परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें मुख्य रूप से वस्तुओं के थोक मूल्यों के सूचक-अंक पर ही निर्भर रहना पड़ेगा जैसे कि ब्रिटिश बोर्ड

आफ ट्रेड का सूचक-अंक (१५० वस्तुएँ) और अमेरिकन ब्यूरो आफ लेवर का सूचक-अंक (५५० वस्तुएँ)। आधुनिक सर्व-प्रमुख सूचक-अंक भारशील (weighted) होते हैं। अर्थात् इनमें विभिन्न वस्तुओं को उनके सापेक्ष महत्व के अनुसार भार दिया जाता है, साधारणतः एक निर्दिष्ट समय में विभिन्न वस्तुओं पर जो सापेक्ष मात्रा खर्च होती है, उसके अनुसार उसे भार दिया जाता है। और जब सूचना उपलब्ध होती है तब इस निर्दिष्ट समय को बदल दिया जाता है जिससे भार यथासम्भव आधुनिक हो सके। उदाहरण के लिए ब्यूरो आफ लेबर प्रत्येक दो वर्ष के उपरान्त भार को पुनः निर्धारित करता है।

मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?
(How the Value of Money is Determined)

§५. **मुद्रा तथा अन्य वस्तुओं में सादृश्य** (Resemblances between Money and other Things)—अब हम इस प्रश्न पर विचार करने की स्थिति में हैं कि मुद्रा का मूल्य किन शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। यह इस प्रश्न से भिन्न है कि परिवर्तनों को किन विधियों से मापा जा सकता है। हमारे लिए यह सबसे कठिन एवं मूल प्रश्न है और अगले कई अध्यायों तक हम इसे हल न कर सकेंगे। समझने के लिए इसके अलग-अलग भाग को लेना आवश्यक है। इस अध्याय में यदि हम प्रधान शक्तियों को जिनके प्रभाव से एक अपेक्षाकृत स्थिर काल में, मुद्रा का मूल्य वहाँ रहता है जहाँ पर कि वह है, क्रम में रख सकें तो हमें सन्तुष्ट हो लेना चाहिए। हमारा यह साधन मुद्रा के मूल्य को मोटे तौर से मापने में तीव्र उतार-चढ़ाव के समय जैसे १९१४ और १९२१ के बीच के वर्षों की अपेक्षा युद्धपूर्व के दशक १८९० और वर्तमान समय के बीच अधिक लाभप्रद होगा। यह साधन उस दूरबीन के समान होगा जो लंगर लगाये जाने वाले दो या अधिक जहाजों का क्रम मालूम करने के लिए प्रयोग की जाती

हैं, न कि उस दो नली दूरबीन की तरह जो एक घुड़दौड़ को देखने के लिए इस्तेमाल होती है।

यहाँ फिर हम सही रास्ते पर चल सकेंगे यदि हम याद रखें कि मुद्रा अनेक आर्थिक वस्तुओं में से एक है। इस कारण मूलतः इसका मूल्य ठीक इन्हीं दो साधनों द्वारा निश्चित होता है जिनसे अन्य किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है—अर्थात् इसकी माँग की परिस्थितियों तथा इसकी उपलब्ध मात्रा से। इस विचार के अध्ययन के लिए हम इन दोनों में से किसी रीति को अपना सकते हैं। हम अपना ध्यान या तो मुद्रा की कुल मात्रा या स्टॉक पर, जो एक निर्दिष्ट समय-विन्दु पर विद्यमान है, केन्द्रित कर सकते हैं या मुद्रा के उस प्रवाह व संचार पर जिसका उपयोग एक निश्चित कालावधि में होता है। इन दोनों रीतियों के अपने अलग-अलग लाभ हैं। इस कारण प्रस्तुत विषय को समाप्त करने से पहले उन रीतियों से परिचित हो जाना उचित होगा। किन्तु मुद्रा का मुख्य उद्देश्य तो उपयोग होने में है, इसलिए सम्भवतः दूसरी रीति का साधारण व्यक्ति द्वारा ग्रहण किया जाना अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। अस्तु हम निष्क्रिय मुद्रा (Money Sitting) के बजाय सक्रिय मुद्रा (Money on the Wing) को ही ध्यान में रखकर यह विषय आरम्भ करेंगे। मुद्रा के मूल्य का अर्थ हम यहाँ मुद्रा का विनिमय-मूल्य मानेंगे अर्थात् समस्त वस्तुओं और सेवाओं के रूप में जिनके खरीदने के लिए इसका प्रयोग होता है।

विषय को इस प्रकार देखने से हमें ज्ञात होता है कि मुद्रा की माँग की दशाएँ सब प्रकार के व्यापारिक कार्यों की कुल मात्रा में समाविष्ट होती हैं जो एक निश्चित काल में मुद्रा की सहायता से विनिमय की जाती है। व्यापार-कार्य की मात्रा अनेक कारणों से घट-बढ़ सकती है। सम्भव है तैयार माल और सेवाओं की मात्रा, जिसका वितरण समाज में अन्तिम उपभोग के लिए होता है, बढ़ गयी हो। अथवा कदाचित् चाहे सट्टेबाजी के जोर पकड़ने से या उद्योग की व्यवस्था

में परिवर्तन होने से कच्चे माल जैसे कपास और गेहूँ, कमीज और रोटी का अंतिम रूप धारण करने से पहले वह अपेक्षाकृत अधिक शीघ्रता से हस्तान्तरित होने लगी हो। या शायद किसी कारण से पूँजीगत वस्तुओं जैसे मकानों और प्रतिभूतियों का विनिमय अधिक बढ़ गया हो। हर हालत में व्यापार की मात्रा बढ़ने से मुद्रा की माँग में वृद्धि होती है और इसी प्रकार व्यापार की मात्रा में घटी होने से मुद्रा की माँग घटती है।

मुद्रा की माँग की दशाएँ दी हुई होने पर, मुद्रा का मूल्य उसकी उपलब्ध मात्रा पर निर्भर रहता है। यदि अपेक्षाकृत उसकी थोड़ी इकाइयाँ उपलब्ध हैं, तो उनमें से प्रत्येक के करने के लिए अधिक कार्य होगा, प्रत्येक इकाई के विनिमय में अन्य वस्तुएँ अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्राप्त होंगी और उसका मूल्य ऊपर दी हुई परिभाषा के अनुसार, उस मूल्य से अधिक होगा जितना कि वास्तव में अब है। इसके विपरीत यदि मुद्रा की अधिक इकाइयाँ उपलब्ध हैं, तो प्रत्येक इकाई का अन्य वस्तुओं की कम मात्रा के साथ विनिमय होगा और इस कारण उसका मूल्य जितना कि वास्तव में अब है उससे कम होगा। यदि हम इस विश्लेषण को अन्त तक ले चलें तो हमें विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि मुद्रा की कुल उपलब्ध मात्रा में से एक इकाई भी घटा दी जाय तो भी अन्य इकाइयों के लिए काम की मात्रा में थोड़ी वृद्धि होने की प्रवृत्ति दिखाई देगी और इस कारण उनका मूल्य बढ़ जायगा। प्रत्येक इकाई का जो मूल्य है वह उतना इस कारण है कि उतनी ही इकाइयाँ उपलब्ध हैं, न उनसे अधिक, न कम। और मुद्रा की प्रत्येक इकाई का मूल्य उसकी किसी इकाई के मूल्य के बराबर होता है, जिसके विषय में हम उसके एकाएक हटा दिये जाने की कल्पना कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ-माला की इस प्रथम पुस्तक के पाठकगण यह तुरंत ही देख लेंगे कि इस बात में भी मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्य

के अनुरूप है, माँग की दशाओं के अनुसार यह उपलब्ध इकाइयों की कुल मात्रा पर निर्भर करता है, और यह उस इकाई के मूल्य के बराबर होता है जिसे हम एकाएक हटाने की कल्पना के लिए चुन सकते हैं।

§६. मुद्रा और अन्य वस्तुओं में विभिन्नता(Differences between Money and Other Things)—अब हम उन दो बातों पर विचार कर सकते हैं जिनमें मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्य से भिन्न रूप से निर्धारित होता है। पहली बात निस्सन्देह बहुत महत्त्वपूर्ण है। रोटी का मूल्य केवल इसी बात का सूचक नहीं है कि एक पाव रोटी के विनिमय में सामान्य वस्तुओं की कितनी मात्रा मिल सकती है, बल्कि कुछ अंश तक यह एक पाव रोटी की उपयोगिता, तृप्ति, सन्तोष प्रदान करने की शक्ति का मापक भी है। यदि उपलब्ध पाव रोटियों में एक को नष्ट कर दिया जाय तो उसके अनुरूप वास्तविक आर्थिक कल्याण में भी कमी होगी। क्या हम मुद्रा के विषय में भी ऐसा कह सकते हैं ?

एक दृष्टि से हम ऐसा कह सकते हैं। यदि मुद्रा की एक इकाई को नष्ट कर दिया जाय तो स्पष्ट रूप से उस विशेष इकाई का अधिकारी उस अंश तक गरीब हो जायगा। कोई भी व्यक्ति जिसने कभी भी ६ पेंस खोया है इस पर सन्देह प्रकट न करेगा अथवा वाद-विवाद न करेगा। किंतु इससे यह कदापि भी स्पष्ट नहीं है कि इस कारण समष्टि रूप में सारा संसार उस अंश तक निर्धन हो जायगा। क्योंकि वास्तविक वस्तुओं के ऊपर का अधिकार जिसका ६ पेंस खोने वाला व्यक्ति त्याग करता है वास्तव में नष्ट नहीं होता; वह तो अपने आप समाज के बाकी लोगों के पास चला जाता है, जिनके ६ पेंस अब पहले से अधिक वस्तु खरीद सकेंगे। वस्तुतः यदि एक साथ अधिक मात्रा में मुद्रा खो जाय या नष्ट हो जाय तो स्पष्ट रूप से समाज के कार्य-व्यापार में बाधा होगी और विनिमय तथा उत्पत्ति में इस प्रकार से रुकावट होने

पर वास्तविक आर्थिक कल्याण में भारी कमी हो सकती है। किंतु यथार्थता यह है कि (सीमा के भीतर) मुद्रा का मूल्य मुद्रा की एक इकाई की उपयोगिता का केवल उसके अधिकारी के लिए ही मापक है, न कि समस्त समाज के लिए, जब कि रोटी का मूल्य (सीमा के भीतर) किसी एक पाव रोटी की सामाजिक उपयोगिता का भी मापक है। मुद्रा की इस विशेषता का कारण यह है कि साधारणतः कोई भी व्यक्ति अन्य वस्तुओं के खरीदने की शक्ति प्राप्त करने के अतिरिक्त और किसी बात या उद्देश्य के लिए मुद्रा की चाह नहीं करता।

मूल्य-निर्धारण के विषय में मुद्रा की दूसरी विशेषता पहली विशेषता से बहुत मिलती-जुलती है, और यद्यपि यह कम महत्त्वपूर्ण है, फिर भी इसने अधिक ध्यान आकर्षित किया है। मुद्रा की माँग की दशाएँ दी हुई होने पर, इसके मूल्य और उपलब्ध परिमाण के बीच जो सम्बन्ध है वह विशिष्ट प्रकार का है—जितनी अधिक संख्या में इकाइयाँ उपलब्ब होंगी, ठीक उसी अनुपात में प्रत्येक इकाई का मूल्य कम होगा। तनिक विचार से इसकी सत्यता सिद्ध हो जायगी। यदि विनिमय करने के लिए वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा है और यदि उनमें से प्रत्येक का हस्तान्तरण एक निश्चित वार होना है, तो मुद्रा के उपलब्ध परिमाण के आधा होने पर मुद्रा की प्रत्येक इकाई के करने के लिए कार्य की मात्रा ठीक दुगुनी हो जायगी—अर्थात् प्रत्येक इकाई सामान्य वस्तुओं की पहले से दुगुनी मात्रा के बदले में हस्तान्तरित होगी। और यदि मुद्रा का उपलब्ध परिमाण दुगुना हो जाय तो प्रत्येक इकाई के लिए ठीक आधा काम रह जायगा—अर्थात् सामान्य वस्तुओं की ठीक आधी मात्रा के साथ प्रत्येक इकाई का विनिमय होगा। गणित की भाषा में हम कह सकते हैं कि मुद्रा की माँग की दशाएँ दी होने पर उसका मूल्य उसके उपलब्ध परिमाण की उल्टी दिशा में बदलता है अथवा दूसरे शब्दों में समान्य मूल्य-स्तर मुद्रा के उपलब्ध परिमाण की उसी दिशा में सीधे या प्रत्यक्ष रूप से बदलता है।

किन्तु यदि हम मुद्रा की इस महत्त्वपूर्ण विशेषता से असत्य निष्कर्ष निकालने से बचना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि "मुद्रा के उपलब्ध परिमाण" शब्दों पर थोड़ा-बहुत ध्यान दिया जाय। स्मरण होगा कि हमने फिलहाल एक निश्चित समय के भीतर—मान लो एक सप्ताह—मंडी में मुद्रा का जो प्रवाह है उस पर ध्यान केन्द्रित करने का निश्चय किया था। किन्तु उस सप्ताह में मुद्रा की कुछ इकाइयाँ विभिन्न कामों के लिये उपलब्ध न होंगी, वे हमारी जेब में पड़ी रह सकती हैं या बैंक में अथवा भूमि में गड़ी रह सकती हैं। दूसरी ओर उन में से कुछ दुबारा, तिबारा अथवा अनेक बार उपलब्ध हो सकती हैं और एक सप्ताह के भीतर अनेक अलग-अलग सौदों के भुगतान में प्रयुक्त की जा सकती हैं। मुद्रा की कुछ इकाइयाँ, बुराइयों की तरह, बहुत तेजी से चलती हैं, वे आसानी से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास खिसकती रहती हैं, और कुछ इकाइयाँ रेलवे का टिकट खरीदती हुई एक वृद्धा के समान होती हैं—ऐसा लगता है मानों उनकी चलने की शक्ति बिल्कुल समाप्त हो गई है। इस तथ्य को प्रायः इस प्रकार कहा जाता है कि केवल मुद्रा की कुल मात्रा का ही नहीं, बल्कि उसके औसत चलन वेग (Velocity of Circulation) का भी हिसाब रखना जरूरी होता है। यद्यपि हमने इस बात पर पहुँचने के लिए एक भिन्न तरीके को सुविधाजनक पाया है, फिर भी यह इस तथ्य के बिल्कुल अनुरूप है कि मुद्रा की माँग का अनुमान लगाते समय हमें केवल इस बात का ही ध्यान नहीं रखना है कि एक निश्चित समय के भीतर वस्तुओं की कितनी मात्रा का विनिमय होना है बल्कि यह भी देखना है कि किस रफ्तार से अथवा कितनी बार प्रत्येक वस्तु हस्तान्तरित होती है।

मुद्रा के चलन-वेग को हम यहाँ एक छोटी कथा[1] का दृष्टान्त देकर समझायेंगे। डरबी के दिन 'बाब' और 'जो' नामक दो व्यक्तियों ने

१. एजवर्थ, इक्नामिक जर्नल, १९१९, पृ० ३२९।

मिलकर शराब खरीदी और इस इरादे से 'इपसम' के लिए रवाना हुए कि वहाँ घुड़दौड़ के मैदान में उसे ६ पेंस प्रति पिण्ट के हिसाब से फुटकर बेचने से जो प्राप्ति होगी उसे आपस में बराबर-बराबर बाँट लेंगे। रास्ते में बाब को, जिसके पास केवल एक ३ पेंस का सिक्का था, बहुत प्यास लगी। उसने जो को ३ पेंस देकर एक पिण्ट शराब पीकर अपनी प्यास बुझायी। थोड़ी देर बाद जो को प्यास लगी। उसने उस ३ पें० को बाब को लौटाकर एक पिण्ट शराब पी। चूँकि उस दिन बहुत गर्मी थी, इस कारण बहुत शीघ्र ही बाब को फिर प्यास लगी और उसके थोड़ी देर बाद फिर जो को। जब वे इपसम पहुँचे तो वह ३ पें० बाब की जेब में था और प्रत्येक ने एक दूसरे का ऋण पूरा-पूरा चुकता कर दिया था। लेकिन इस प्रकार सारी शराब खत्म हो चुकी थी। केवल एक ३ पेंस के सिक्के से इतनी बड़ी मात्रा में व्यापार हुआ जिसके करने के लिए (यदि जैसा कि पहले निश्चय किया गया था शराब को बाजार में बेचा जाता, तो) कई शिलिंग की आवश्यकता पड़ती।

यदि हम मुद्रा के विनिमय-मूल्य को नहीं बल्कि उसके आय-मूल्य को (अर्थात् उसके मूल्य को वस्तुओं और सेवाओं के रूप में जो वास्तविक आय या उत्पत्ति के अंग हैं) जानना चाहते हैं तो भी हम इस रीति का अनुसरण कर सकते हैं। किन्तु इस दशा में मुद्रा के चलन-वेग का अर्थ यह नहीं होगा कि किसी भी उद्देश्य के लिए मुद्रा की प्रत्येक इकाई औसत कितनी बार खर्च की गयी, बल्कि उसका यह अर्थ होगा कि एक सप्ताह अथवा अन्य किसी समय के दौरान में मुद्रा की प्रत्येक इकाई औसतन कितनी बार उन वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने में खर्च की जाती है जो वास्तविक आय या उत्पत्ति के अंश होती हैं। मुद्रा-चलन का यह 'आय वेग' (Transaction Velocity) स्पष्टतः उसके विनिमय-वेग (Exchange Velocity) से कम होगा।

§७. जनता की मुद्रा की माँग (The Public Demand for Money)—अब हम एक निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं जो, जहाँ तक उसका तात्पर्य है, निश्चित है। किन्तु यदि हम जिज्ञासु प्रकृति वाले व्यक्ति हैं तो हम अब भी सन्तुष्ट न होंगे और इस सम्बन्ध में हमारा पहला प्रश्न यह होगा कि चलन-वेग का निर्धारण कैसे होता है ? किसी देश में एक समय में मुद्रा-चलन का वेग क्यों अमुक होता है ? वह उससे अधिक तेज या मन्द कोई नहीं होता। यह प्रश्न पूछने से हमें दिमाग पर जोर देने तथा इस सारे विषय पर फिर से विचार करने का अवसर मिल जाता है, और अब हम सक्रिय मुद्रा के बदले निष्क्रिय मुद्रा पर ध्यान देंगे। चूँकि अन्तिम प्रकरण में हम मुद्रा के विनिमय-मूल्य पर नहीं, बल्कि उसके आय-मूल्य पर विचार कर रहे थे, इसलिए उसे वहीं छोड़कर, अब हम यह देखेंगे कि किस प्रकार हम मुद्रा के आय-मूल्य का निर्धारण करने वाली शक्तियों को व्यक्त कर सकते हैं, जबकि हमने यह निश्चय कर लिया है कि मुद्रा के उपलब्ध परिमाण का अर्थ मुद्रा के उस बहाव से नहीं है जो दिये हुए समय में मण्डी में आती है बल्कि मुद्रा की उस कुल मात्रा से है जो एक निश्चित क्षण में पायी जाती है। यहाँ हमें 'मुद्रा की दशाओं' इस वाक्यांश को थोड़ा बदलना पड़ेगा और इसे एक अन्य भाव में प्रयोग किया जायगा जो ऊपरी तौर से उस भाव से अपेक्षाकृत अधिक कठिन है, जिसे अभी तक हमने अपना रखा था, लेकिन फिर भी वास्तव में यह 'मांग' शब्द के सामान्य अर्थ के बहुत निकट है। इसका कारण यह है कि माँग के विचार को निर्जीव वस्तुओं के प्रवाह से न जोड़कर हम इस भाव के द्वारा मनुष्य के मन से सम्बन्धित क्रियाओं के सम्पर्क में आ जाते हैं।

यह बात तो सभी सहज में स्वीकार करेंगे कि साधारण व्यक्ति कुछ तो सामान्य जीवन के कार्यों को सुगमता से करने के लिए और कुछ भावी घटनाओं के समय काम आने के उद्देश्य से मुद्रा की थोड़ी मात्रा अपने पास जमा रखना चाहता है। सरल भाषा में यह उस व्यक्ति की

मुद्रा की माँग हुई। लेकिन जब कि उसकी रोटी की माँग को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है, प्रत्यक्षतः उसकी मुद्रा की माँग को मुद्रा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी तनिक विचार से यह स्पष्ट हो जायगा कि मुद्रा की माँग को उन वास्तविक वस्तुओं जैसे भोजन, सफर इत्यादि अथवा व्यापार के लिए इमारत, मशीनरी इत्यादि के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, जिनकी खरीद मुद्रा की इस मात्रा से प्राप्त होने वाली व्यावहारिक सुविधा तथा मानसिक शांति के लिए उसे त्यागनी पड़ती है। यदि इस बात से हम भ्रम में पड़ जाते हैं कि भला किस प्रकार उस माँग की माप हो सकती है जिसमें इस तरह की विभिन्न चीजें शामिल हैं, तो हमें अपने को यह याद दिलाना जरूरी है कि यह उस समस्या का केवल एक दूसरा रूप है जिन पर हमने इस अध्याय के प्रथम भाग में मूल्य-सूचक-अंक के सम्बन्ध में विचार किया था और वहाँ जो हल प्राप्त हुए थे उन्हें वर्तमान कठिनाई दूर करने में भी इस्तेमाल किया जा सकता है। अस्तु, इस विषय पर बिना अधिक वाद-विवाद के हम यहाँ यह कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति की मुद्रा की माँग उसकी मुद्रा की मात्रा के कुल वास्तविक मूल्य में (वस्तुओं और सेवाओं के रूप में जिनमें उसका स्वार्थ है) निहित है।

अब प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में वास्तविक मूल्य की इस मात्रा को, जो उसके लिए मुद्रा के सदृश है, उसके वार्षिक वास्तविक आय के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है—अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं के रूप में जिनके खरीदने का अधिकार उसे अपनी वार्षिक मुद्रा आय से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए उनकी आदतों और नौकरियों की प्रकृति के अनुसार यह अनुपात भिन्न-भिन्न होगा। यही नहीं, एक व्यक्ति के लिए यह अनुपात हर समय एक-सा न होगा। यदि हम उदाहरण के लिए एक श्रमिक का दृष्टांत लें जिसे सप्ताह में एक बार ३५ शि० मिलता है और जो ५ शि० प्रतिदिन के हिसाब

से अपनी सारी आय नियमानुसार या क्रम से खर्च करता है, तो उसका अनुपात यद्यपि वह सप्ताह भर शून्य से शत-प्रतिशत तक बदलता है, उसकी आय का औसतन ५० प्रतिशत बैठेगा। दूसरी ओर हमें आश्चर्य होगा यदि हम दीवानी के एक कर्मचारी को लें जिसे १००० पौं० वार्षिक मिलता हो लेकिन औसतन बैंक में आधे सप्ताह की आय—१० पौं०—हो। किंतु एक दिए हुए समय में किसी देश की मुद्रा की माँग—अर्थात् वहाँ की मुद्रापूर्ति का वास्तविक मूल्य—को उसकी वास्तविक राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में—अर्थात् उन वस्तुओं और सेवाओं के अनुमान के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जो वर्ष में वहाँ के निवासियों की अन्तिम खरीद के लिए उपलब्ध होती हैं। अपने इस कथन को वास्तविकता के निकट लाने के लिए यह तुरन्त ही कहा जा सकता है कि ग्रेट ब्रिटेन के लिए यह अनुपात आधे के लगभग बराबर है।

इस अनुपात का परिमाण किस पर निर्भर रहता है? जैसा कि कहा जा चुका है यह एक ओर तो मुद्रा की किसी मात्रा से जो सुविधा आदि सुरक्षा प्राप्त होती है उस पर निर्भर रहता है और दूसरी ओर उपभोग में वृद्धि अथवा व्यापार-पूँजी या सरकारी व औद्योगिक प्रतिभूतियों के लाभप्रद विनियोग के वैकल्पिक प्रलोभनों पर निर्भर रहता है, जिनके विरुद्ध इन लाभों की माप करनी होती है। अस्तु, मुद्रा की माँग का परिमाण, रोटी की माँग की तरह, सीमा पर स्पर्धक लाभों की वैयक्तिक मापन-क्रिया का परिणाम है। इस ग्रंथ-माला की प्रथम पुस्तक के पाठक मुद्रा और अन्य वस्तुओं के बीच एक नये सम्बंध का सहर्ष स्वागत करेंगे। जहाँ तक मुद्रा की किसी मात्रा के रखने की सुविधा का प्रश्न है, पाठकगण आर्थिक दशाओं और आदतों की एक सूची तैयार कर सकते हैं, जो इसे अधिक या कम कर सकती है। उदाहरणार्थ वे यह देखेंगे, कि यदि लोग अधिक समय के अन्तर पड़ने पर अपने ऋणों का भुगतान करते हैं तो यह मात्रा अधिक होगी क्योंकि

इन परिस्थितियों में किसी एक समय में अधिक मात्रा में मुद्रा को बेकार रखना पड़ेगा। इस प्रकार, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से बोध होता है, यदि लोगों को मासिक वेतन दिया जाता है तो मुद्रा की माँग उस माँग की अपेक्षा अधिक होगी जो साप्ताहिक वेतन मिलने पर होती।

§८. **निष्क्रिय मुद्रा तथा सक्रिय मुद्रा** (Money Sitting and Money on the Wing)—प्रश्न यह है कि मुद्रा की माँग जिस अर्थ में हम अभी-अभी इसे प्रयोग कर रहे थे और चलन-वेग जिसका प्रयोग चल या सक्रिय मुद्रा के अध्ययन के विषय में किया गया था इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर बहुत सरल है। यदि लोग वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने की शक्ति अधिक मात्रा में अपने पास रखना चाहते हैं, तो मुद्रा को स्थिर रहना पड़ेगा और इस कारण इसका चलन-वेग कम होगा। यदि किसी कारणवश क्रय-शक्ति की उतनी मात्रा रखने की इच्छा की तीव्रता घट जाती है तो लोग अपनी मुद्रा को अधिक तेजी से खर्च करने लगेंगे और फलस्वरूप मुद्रा का चलन-वेग बढ़ जायगा। उनकी वार्षिक वास्तविक आय का अनुपात, जिसके लिए वे मुद्रा के रूप में अधिकार व क्रय-शक्ति रखना चाहते हैं, विपरीत रूप में मुद्रा-चलन का वार्षिक आय-वेग है। उदाहरण के लिए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यदि इंग्लैंड के लिए यह अनुपात आधा है, तो इसका अर्थ हुआ कि इंग्लैंड में मुद्रा की प्रत्येक इकाई जो उपलब्ध होती है, साल में औसतन दो बार वस्तुओं और सेवाओं के (जो वास्तविक आय के अंश हैं) खरीदने में इस्तेमाल होती है।

पाठक सन्तुष्टि के साथ यहाँ यह देखेंगे कि मुद्रा की यह विशेषता कि माँग की दशाएँ दी हुई होने पर, इसका मूल्य परिमाण के विपरीत घटता-बढ़ता है तब ठीक बैठती है, जब हम संचार के रूप में नहीं बल्कि स्टाक के रूप में मुद्रा पर विचार करते हैं। इसका कारण यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी वार्षिक मुद्रा आय से

जितनी वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सकता है उसकी आधी मात्रा खरीदने के लिए अपने पास पर्याप्त मुद्रा रखने का निश्चय करता है तो इस बात से कोई अन्तर न पड़ेगा कि उस संचय या स्टाक में एक निश्चित मूल्य की मुद्रा की १०० इकाइयाँ हैं अथवा उससे आधे मूल्य की २०० इकाइयाँ हैं। समाज की मुद्रा की माँग, जैसा कि ७वें प्रकरण में समझाया गया है, दी हुई होने पर समाज के मुद्रा-स्टाक का कुल मूल्य, इस बात से पृथक् निर्धारित होता है कि उसमें मुद्रा की कितनी इकाइयाँ सन्निहित हैं।

उन लोगों के लाभ के लिए जिनमें यथा प्रमाणता के लिए उत्कण्ठा होती है, यह कहा जा सकता है कि निष्क्रिय मुद्रा के अध्ययन से जिन विचारों को हमने ग्रहण किया है उन्हें मुद्रा के विनिमय-मूल्य के परीक्षण में उतनी ही सरलता से प्रयोग किया जा सकता है जितनी कि मुद्रा के आय-मूल्य के परीक्षण में। इसके लिए केवल एक विचार-बिन्दु को स्थानांतरित करना अपेक्षित है। उस वार्षिक वास्तविक निकासी के अनुपात की धारणा को जिसके लिए लोग पर्याप्त मुद्रा वांछनीय समझते हैं, उस वार्षिक वास्तविक आय के अनुपात की धारणा से बदल लिया जाय जिसकी उपलब्धि के लिए लोग पर्याप्त मुद्रा आवश्यक मानते हैं। किन्तु इस विचार विलास से कोई नया फल नहीं निकलता। अतः इसके साथ क्रीड़ा करना या न करना पाठकों की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है।[1]

§६. **प्रस्तुत समस्याएँ** (Problems Ahead)—अब हम गौर से देखें कि वस्तु-स्थिति क्या है। इस समय तक हमने जो द्रविड़ी प्राणायाम किया था, उसका लक्ष्य इसी सिद्धान्त को समझाना था कि मुद्रा का मूल्य, अन्य वस्तुओं की तरह, उसकी माँग की दशा पर और उसके उपलब्ध परिमाण पर निर्भर

१. जो पाठक प्रतीकों से भयभीत नहीं होते, किंतु उन्हें सहायक पाते हैं उनका ध्यान परिशिष्ट अ[1] की ओर आकर्षित किया जाता है।

रहता है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा की निष्क्रिय स्थिति उन मनोवैज्ञानिक तत्वों को समझने में विशेष सहायक होती है जो मुद्रा का मूल्य निर्धारित करते हैं, इसके विपरीत मुद्रा की सक्रिय स्थिति उन वास्तविक क्रियाओं को समझने में अधिक सहायक होती है जो यथार्थ जीवन में वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य-परिवर्तन से सम्बद्ध हैं—वह हमें स्मरण कराती है कि मुद्रा एवं वस्तुओं के परिमाण मूल्य-स्तर को किसी दैवी ग्रह के संयोग से प्रभावित नहीं करते, वरन् मनुष्यों की बेचने या न बेचने, खरीदने या न खरीदने की शक्ति तथा इच्छा को परिवर्तित करने के कारण करते हैं। किन्तु किसी भी अवस्था में हम अपने लक्ष्य के अन्त तक नहीं पहुँच पाए हैं।

पहली बात तो यह है कि यह कहने से हमारी कहानी समाप्त नहीं हो जाती कि जहाँ तक साधारण वस्तुओं का प्रश्न है मूल्य के मान वस्तुओं की माँग और परिमाण पर निर्भर करते हैं। एक कदम और आगे उठाकर हम कह सकते हैं कि उनका परिमाण अन्ततः उनके उत्पादन की सरलता अथवा कठिनाई पर निर्भर रहता है, और उनके मूल्य की यह प्रवृत्ति होती है कि कुछ अंशों में यह उनके उत्पादन-मूल्य के बराबर हो। अब प्रश्न उठता है कि क्या मुद्रा के सम्बन्ध में हम यह कदम उठा सकते है? क्या ऐसी शक्तियाँ काम कर रही हैं जिनके कारण मुद्रा की उपलब्ध राशि उत्पादन की कठिनाई पर निर्भर हो और इसलिए उसका मूल्य उत्पादन-मूल्य के बराबर हो? यदि नहीं तो ऐसी कौन-सी अन्य शक्तियाँ हैं जो मुद्रा की उपलब्ध राशि की सीमा निर्धारित कर सकें?

दूसरी बात यह है कि अब तक हम साधिकार मुद्रा की माँग और मुद्रा की उपलब्ध राशि को दो स्वतंत्र और असम्बद्ध वस्तुओं के रूप में देखते रहे हैं। किन्तु, दुर्भाग्यवश वस्तु-स्थिति कुछ और ही है। यदि हम अनवरत परिवर्तन की क्रिया का अध्ययन कर रहे

हैं तो ये दो वस्तुएँ पूर्णतः परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। दूसरे शब्दों में मुद्रा की उपलब्ध राशि में होता हुआ परिवर्तन उसकी माँग को—माँग की दशाओं को—प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार माँग की दशाओं में परिवर्तन मुद्रा के परिमाण को प्रभावित कर सकते हैं। ये पेचीदे तथ्य अव्यवस्थित मुद्रा-प्रणालियों की गति-विधि अथवा मुद्रा एवं व्यावसायिक उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध सूत्रों को समझने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होते हैं, पर अपना दिमाग ठिकाने रखने के लिए इन पेचीदगियों को पुस्तक के अंतिम भाग के लिए छोड़ देना उचित है। इन बिखरे सूत्रों में एक को तो हम यहाँ उठावें और देखें कि मुद्रा की उपलब्ध-राशि कैसे निर्धारित होती है? इस प्रकार का उत्तर, अन्य प्रश्नों की तरह (जिनका हम विवेचन कर चुके हैं) सरल और सार्वदेशिक नहीं है, अपितु मुद्रा और मुद्रा-प्रणाली के प्रकार पर, जिनका हम विवेचन कर रहे हैं, आधारित है। अतः अब हमारे लिए मुद्रा के विभिन्न उपलब्ध प्रकारों पर विचार करना अभीष्ट है।

अध्याय :: ३

मुद्रा का परिमाण

(The Quantity of Money)

"उनके नामकरण का लाभ ही क्या हुआ जबकि वे प्रत्युत्तर भी नहीं देते ?" वनमक्खी बोली।

"उन्हें तो कोई लाभ नहीं," एलिस ने कहा, "किंतु जो लोग उनका नामकरण करते हैं उन्हें तो, मेरा विचार है, लाभ ही है। यदि ऐसा नहीं, तो फिर वस्तुओं के नाम ही क्यों होते हैं ?"

"मुझे पता नहीं," वनमक्खी बोली। —थ्रू दि लूकिंग ग्लास

१. मुद्रा के प्रकार

(The Kinds of Money)

§१. **बेंक मुद्रा और सामान्य मुद्रा : विधि ग्राह्य, ऐच्छिक और सहायक मुद्रा** (Bank Money and Common Money : Legal Tender, Optional and Subsidiary Money)—पिछले अध्याय ने हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण पहेली खड़ी कर दी थी, जिसे हम तब तक नहीं सुलझा सकते जब तक कि हम मुद्रा के विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में कुछ और अधिक परिचय प्राप्त न कर लें। बात यह है कि संसार में सदा ही विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ और मुद्रा-प्रणालियाँ रही हैं और आज भी हैं, और यदि उनका विशद वर्णन किया जाए तो वह हमारी पुस्तक की सीमा का उल्लंघन कर जाएगा। किंतु यदि हम जान-पहचान की कोई मुद्रा

लें—उदाहरण के लिए पांच पाउंड का नोट—और उसका उसी प्रकार परीक्षण करें जैसे कोई वनस्पतिशास्त्रवेत्ता किसी वनस्पति से करता है तो हम उसके और अन्य मुद्राओं के अन्तर को समझ सकते हैं। इस आधार पर मुद्राओं का एक मोटा-सा वर्गीकरण किया जा सकता है। और तब फिर हम यह भी जान सकते हैं कि किस प्रकार संसार में विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के आधार पर विभिन्न प्रकार की मुद्रा-प्रणालियाँ बनी हैं।

पाँच पाउंड के नोट से हमारा पहला प्रश्न यह होगा : "ऋण-शोध के लिए यदि मैं तुम्हें किसी व्यक्ति को दूँ तो क्या तुम बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लिए जाओगे ?" नोट का निःशंक उत्तर होगा : "हाँ, यदि वह व्यक्ति इसी देश में रहता है। यहीं मैं उस चैक (cheque) से श्रेष्ठ हूँ जिसे आपने कल सुबह अपने दर्जी को भेजा था। दर्जी चैक को तभी स्वीकार करेगा जबकि वह जानता है कि बैंक में आपके नाम पैसे जमा हैं, और उसे इस बात की भी सुविधा है कि वह उस चैक को अपने बैंक में जमा करवा सकता है। किंतु यदि आप काश्तकार हुए तो इसमें कोई फायदा नहीं कि आप अपने मजदूरों को चैक में मजदूरी देने का प्रयत्न करें। कारण, संभव है उन्हें यही न मालूम हो कि चैक का क्या करना चाहिए। और यदि आप ग्रीष्म में छुट्टी मनाने लिट्ल पड्ल कूम्ब जायें और वहाँ के व्यापारियों को, जिनसे आपका कोई विशेष परिचय नहीं है, चैक में हिसाब चुकाने लगें तो मुझे तो शर्म आए यदि आपके स्थान पर मैं रहूँ तो। वे व्यापारी चैक से कोई खास प्रभावित नहीं होंगे। आपके लिए अधिक अच्छा तो यह होगा कि आप मुझे और मेरे कुछ बन्धुओं को अपने साथ रखें। भुगतान के समय कोई भी बिना किसी हिचकिचाहट के हमें स्वीकार कर लेगा, और अनुग्रहीत अनुभव करेगा।"

इसलिए हम कह सकते हैं कि हमारा नोट **सामान्य मुद्रा** (Common Money) की कोटि में आता है, अर्थात् वह मुद्रा जो

एक विशेष राजनीतिक क्षेत्र में सर्वत्र ग्राह्य है, वह उस बैंक मुद्रा (Bank money) की कोटि में नहीं आता जिसके लिए विशेष ज्ञान अपेक्षित होता है, और जिसके लेने वाले को विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

हमारा दूसरा प्रश्न होगा, "प्रिय महोदय, बुरा मत मानिएगा, और न मुझे गलत ही समझिएगा। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वास्तव में सभी लोग तुम्हें स्वीकार कर लेंगे, पर मुझे यह बताओ कि क्या वे तुम्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य भी हैं, या वे अपनी मर्जी से तुम्हें अस्वीकार भी कर सकते हैं?" इस बार हमारा नोट अधिक सतर्क होकर उत्तर देगा, "निःसंदेह मुझे स्वीकार करने के लिए वे वाध्य हैं। कानून कहता है कि इस देश के अन्दर सर्वत्र मैं और मेरे बन्धु-बान्धव ऋण-शोध के लिए किसी भी परिमाण तक संपूर्ण विधि-ग्राहय मुद्रा हैं। यहीं तो मैं उन चाँदी और ताँबे के टुकड़ों से श्रेष्ठ हूँ जिनसे मेरी सदा मुठभेड़ होती रहती है। पता नहीं वे अपने आपको क्या समझते हैं, मानों वे स्वयं भी विधि-विहित प्राणी हों। हाँ, किसी सीमा तक तो वे विधि-विहित हैं, पर बस उस सीमा तक ही। जब आप अपने तम्बाकू वाले को उस सिगरेट की डिब्बी के लिए एक शिलिंग और एक पैनी देते हैं तो उसे स्वीकार करना पड़ता है, किंतु यदि आप उसे तेरह पेनी देने लगें तो वह चाहे तो अस्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार यदि आप उसे दो पाउंड एक शिलिंग के बिल का भुगतान इक्तालिस शिलिंग देकर करना चाहें तो उसे इन्कार करने का अधिकार है। किन्तु लोक-व्यवहार में ऐसा अवसर शायद ही आता है, और इसीलिए तो पेनी को अपनी बिसात से अधिक घमण्ड हो गया है।

"कुछ वर्ष हुए, मैं एक अफसर के साथ मध्य-पूर्व का भ्रमण कर रहा था। उस समय मेराया थोरेजा डालर नाम की एक अत्यन्त दिलचस्प महिला से मेरी मुलाकात हुई। उसने बताया कि लगभग दो

सौ वर्ष से बिना किसी सरकारी पासपोर्ट (Passport) के वह उन भागों में घूम रही है, और जहाँ वह जाती है, लोग उसे देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वह रूपहली अच्छी चाँदी से बनी है और इतनी उदार, इतनी परिचित लगती है।[1] वह कहने लगी कि विधि ग्राह्य होने का कोई अर्थ नहीं होता, बिना विधि ग्राह्य हुए ही उसका काम भली प्रकार चलता रहा है, और अब तो वह यह भी अनुभव करने लगी है कि विधि-ग्राह्य होना कोई गौरव की बात नहीं, इसका तात्पर्य है कि आपको अपने आप में विश्वास नहीं। मैं समझता हूँ मेरे कुछ रिश्तेदार अमेरिका में भी हैं—फेडरल रिजर्व बैंक के नोट—जो बिना किसी राजकीय सहायता के अपना काम चलाते रहे हैं। करों का भुगतान उनमें हो सकता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो उनका काम ठीक-ठीक चल रहा हो। किन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं विधि-ग्राह्यता में विश्वास करता हूँ। आजकल दिन अजीब हैं, लोगों के दिमाग में तरह-तरह के विचित्र ख्याल उठते हैं, और मान लो कुछ ऐसा-वैसा हो गया तो?—मैं तो निर्बन्ध हूँ, मेरे पास कानून का समर्थन है, और इसलिए, जैसे हम लोग फौज में कहा करते थे, मुझे तो छूट है।"

अस्तु, हमारा नोट **सम्पूर्ण विधि ग्राह्य मुद्रा** (Full Legal Tender Money) की उपकोटि में आता है, अर्थात, संक्षेप में, वह विधि-ग्राह्य है— वह मुद्रा जो पारस्परिक आदान-प्रदान में किसी भी परिमाण तक ऋण-शोध के लिए विधि-विहित है, वह उस **सहायक मुद्रा** (Subsidiary Money) की उप-कोटि में नहीं आता जो केवल एक छोटी और निश्चित सीमा तक ही स्वीकृत है, और न वह **ऐच्छिक-मुद्रा** (Optional Money) की ही उप-कोटि में आता है जो विधि-विहि तही नहीं।

---

१. देखिए जे० एम० कीन्स, इक्नामिक जर्नल, १९१४, पृ० २६०

§२. **परिवर्तनीय और पारिभाषिक मुद्रा** (Convertible and Definitive Money)—अपने प्रश्नोत्तर की ओर हम फिर ध्यान दें। "यह तो महोदय, अब मैं अच्छी तरह समझने लगा हूँ कि मेरा तम्बाकू वाला तुम्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य है, उसी प्रकार जैसे मैं अपने मालिक से तुम्हें लेने के लिए बाध्य हूँ पर क्या यह आवश्यक है कि हर किसी से भी मैं तुम्हें लेने के लिए बाध्य हूँ ? क्षमा करना, ऐसे लगता है जैसे मैंने सुना हो कि ऐसे भी व्यक्ति हैं जो भुगतान में तुम्हें देने के अधिकारी नहीं हैं, और यदि मैं तुम्हें उनके पास ले जाऊँ तो उन्हें तुम्हारे बदले मुझे अन्य मुद्रा देनी पड़ेगी। तो क्या यह सच है कि तुम 'परिवर्तनीय' मुद्रा हो, या जैसे कि हम लोग कहा करते हैं, तुम इस सम्बन्ध में अंतिम वस्तु हो ?" यहाँ हमारा नोट कुछ असमंजस में पड़ा हुआ मालूम होगा। "मैं नहीं जानता," उसका प्रत्युतर होगा, "आपसे क्या कहूँ। पहले जमाने में तो यदि कोई मुझे बैंक ऑफ इंग्लैड ले जाता था तो मेरे बदले उसे पाँच स्वर्ण मुद्राएँ अथवा गिन्नियाँ मिलती थीं। युद्ध के दिनों में और उसके बाद की अव्यवस्था में भी मैंने तो यही सुन रखा था कि इस सम्बन्ध में कानून में कोई परिवर्तन नहीं आया। किन्तु उन दिनों लोगों ने मुझे बदलने की कोई चेष्टा नहीं की। हाँ, एक बार ऐसा अवश्य किया गया था। टेम्स के निकट एक व्यक्ति जमीन के नीचे एक तहखाने में रहा करता था। सारे दिन वह आग जलाए रखता था, और तरह-तरह के विचित्र बर्तन, तसले, कड़ाई उसने वहाँ रख छोड़े थे। वह मुझे और मेरे कुछ भाइयों को बैंक ऑफ इंग्लैंड ले गया, और हमारे बदले में सोने की मोहरें माँगी, और— छोड़िए शेष किस्से को—काफी दर्दनाक कहानी है। १९२५ से स्थिति में फिर परिवर्तन आया है। यदि आप अब हमें बैंक ऑफ इंग्लैड ले जाते हैं, तो कुछ अवस्थाओं में बैंक आपको हमारे बदले सोना देने के लिए बाध्य है, किन्तु वह सोना मुद्रा नहीं कहला सकता—जैसे आप मुझे खड़े-खड़े वस्तुओं और सेवाओं के लिए आदान-

प्रदान में प्रयोग कर सकते हैं, उस तरह उस सोने को नहीं। अतः पहले की अपेक्षा अब मैं अपने आपको कम परिवर्तनीय अनुभव करने लगा हूँ। साथ ही यह भी ठीक है कि मुद्रा के सम्बन्ध में मैं अन्तिम वस्तु नहीं हूँ, जैसा कि मेरा मित्र, स्वर्ण-मोहर है, या जिस प्रकार, १९२७ तक हिन्दुस्तान में रुपया रहा है, अथवा जैसे कि बहुत-से यूरोपीय बैंकों में युद्ध के बाद के भयानक दिनों में नोट रहे हैं।"

यह उत्तर न तो हमारे लिए और न नोट के लिए ही विशेष संतोषजनक होगा। कारण, सत्य तो यह है कि जीवन के तथ्य प्रायः पाठ्य-पुस्तकों की भाषा के अनुरूप नहीं बने रहते। किन्तु कुछ साहस कर हम अपने नोट को **विनिमय-साध्य विधि-ग्राह्य मुद्रा** का नाम दे सकते हैं, अर्थात् वह मुद्रा जो आदान-प्रदान में अन्तिम रूप से एक साधारण नागरिक को स्वीकार करनी पड़ती हैं, किन्तु व्यक्ति के निवेदन पर किसी केन्द्रीय संस्था को उसे बदलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतः नोट पारिभाषिक मुद्रा नहीं है, अर्थात् वह मुद्रा जिसमें केन्द्रीय संस्था को भी अंतिम रूप से अपने उत्तरदायित्व का पालन करना पड़ता है, जिसमें विनिमय-साध्य मुद्रा के बदलने का उत्तरदायित्व भी सम्मिलित है। यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि केवल विनिमय-साध्य ग्राह्य मुद्रा ही विनिमय-साध्य मुद्रा नहीं है। उदाहरण के लिए, बैंक नोट और कुछ ऐच्छिक मुद्राएँ भी आवश्यक निवेदन करने पर अन्य वस्तुओं के रूप में परिवर्तित होने का अधिकार रखती हैं।

§३. सांकेतिक और सम्पूर्ण मुद्रा (Token and Full-bodied Money)—हम नोट से एक प्रश्न और पूछेंगे, फिर हमारी प्रश्नोत्तरी समाप्त हो लेगी। "तुम सुन्दर और दर्शनीय हो, और मैं तुम्हारे सम्मान के विरुद्ध कोई ऐसी-वैसी बात नहीं करना चाहता, किंतु क्या तुम जरा निर्बल और रक्तहीन नहीं हो? यदि तुम मुद्रा-कार्य करना छोड़ दो, और दूसरा व्यवसाय करने लगो तो क्या तुम अपना पेट भर सकोगे? क्या तब भी लोग तुम्हारा इतना ही सम्मान

करेंगे जितना अब करते हैं ? यदि अधिक स्पष्ट रूप से कहूँ तो बताओ क्या तुम्हारा उतना ही मोल होगा ?" और यहाँ नोट सचमुच क्रोध से भर जाएगा। "आप भी कितने मूढ़ और दकियानूसी हैं ?" उसका प्रत्युत्तर होगा, "मैं समझता हूँ कि आप अपनी उस सोने की मोहर के साथ मेरी तुलना कर रहे हैं जो आपकी तिजोरी में बन्द है। आश्चर्य न कीजिए मैं स्वयं वहाँ रह चुका हूँ। आप समझते हैं कि यदि बुरे-से-बुरा हो तब भी वह मोहर दाँतों में जड़ने के तो काम आवेगी ही। इसमें तो संदेह नहीं कि मुद्रा के अतिरिक्त मेरा कोई लाभ नहीं, और हो भी क्यों ? मुझे ही क्या गरज पड़ी है कि मकान सजाने या दाँतों की चिकित्सा कराने या ऐसे ही अन्य ठोस काम में मेरा कोई उपयोग नहीं; क्षमा कीजिएगा, उसी प्रकार जैसे आपका कोई उपयोग नहीं। मैं आपको यह और बता दूँ कि यह केवल हम जैसे कागज के टुकड़ों के सम्बन्ध में ही लागू नहीं है। मेरे मित्र रुपए का ही दृष्टांत ले लीजिए : वह बड़ा वजनी और तेज दिखाई पड़ता है, और बहुत-से लोग उस पर मोहित हैं, किंतु आप उसके अक्षर छीन लीजिए, फिर देखिए उसके पिंड की क्या कीमत रहती है। उसकी मज्जा उसे मूल्य नहीं देती, यह तो उस पर लिखे अक्षरों का प्रभाव है।

"और मैं आपको यह भी बता दूँ कि यदि सोने की बहुत-सी ढीठ मोहरें अपना मुद्रा-रूप खो बैठें तो जितना वे इठलाती फिरती हैं उतना उनका मूल्य न रह जाय। वे समझती हैं कि लोग उन पर इसलिए लट्टू हैं कि वे हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर हैं। यह तब तक ठीक था जब तक कि लोग असभ्य थे। किंतु आज लोग उनके पीछे इसलिए भागते हैं कि वे मुद्रा हैं। यदि उनमें से एक मुद्रा-व्यवसाय छोड़ दे और अन्य करती रहे, तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि वह जब चाहे अपने पूर्व व्यवसाय को अपना सकती है। लेकिन यदि सभी पदच्युत हो जांय तो दैव ही जाने उनका क्या हो। अब तो यह दाँतों

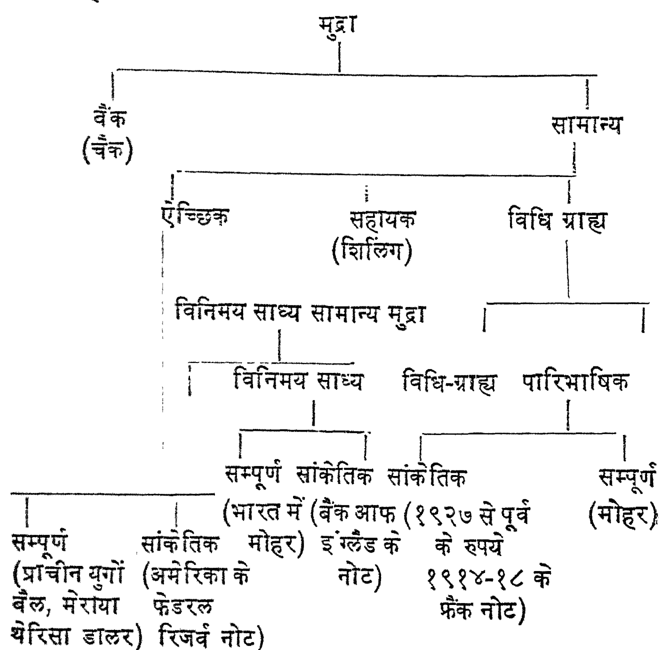
स्वर्ण-जड़ाई भी कम हो गयी है, पहले जितने स्वर्ण-खचित दाँत दुनिया में नजर नहीं आते ।

"आप अब कहेंगे कि ग्रीस के प्राचीन निवासियों के मवेशी, रेड ़यन्स का तम्बाकू तथा चीनवासियों के चाकू मुझसे अच्छी मुद्रा कोटि में आते हैं, क्योंकि उनका अन्य प्रयोग भी सम्भव है—पशुओं खाया जा सकता है, तम्बाकू का सेवन किया जा सकता है और कुओं से नरहत्या की जा सकती है । आप तो यह भी कह सकते के हैरी लाडर, मिस्टर बाल्डविन से श्रेष्ठतर प्रधान मंत्री सिद्ध ं, क्योंकि यदि उन्हें प्रधान मंत्री के पद से हटा दिया जाए तो य-विनोद के गाने गाकर वह अपनी जीविका कमा लेंगे । यह तो स्वीकार करता हूँ कि जैसा जमाना आया हुआ है, उसे देखते हर जाने पर अन्य देशों में स्वर्ण-मुद्राओं की भाँति मेरी प्रतिष्ठा ां होगी । विदेशी मेरी सूरत-शक्ल अधिक पसन्द नहीं करते, किंतु स्वयं अनाड़ी लोग हैं और मैं स्वयं उनकी ओर अधिक ध्यान नहीं ा । सांकेतिक मुद्रा होने की मुझे शर्म नहीं है । विधि-विहित होना मेरे लिए पर्याप्त है ।"

अस्तु, हमारा नोट तब सांकेतिक मुद्रा (Token Money) कोटि में आता है, अर्थात् वह मुद्रा जिसका मूल्य उस वस्तु से ्रक है जिससे वह निर्मित है, वह उस सम्पूर्ण मुद्रा की कोटि में ां आता जिसका मूल्य उस वस्तु से अधिक नहीं होता जिससे वह ्मित होती है । इस अन्तर को समझने से हमारा वर्गीकरण सरल जायगा । सारी बैंक-मुद्राएँ और सहायक-मुद्राएँ साधारणतः सांके- क मुद्रा हैं किंतु ऐच्छिक मुद्राएँ (जैसे कि यूनाइटेड स्टेट्स फेडरल ार्व नोट्स) सांकेतिक मुद्रा की कोटि में आती हैं, और कुछ (जैसे पूर्वीय देशों में प्रचलित चाँदी के सिक्के) सम्पूर्ण मुद्रा हैं । अधि- श विनिमय-साध्य विधि-ग्राह्य मुद्रा सांकेतिक मुद्रा है, जैसे कि ़ के पूर्व और आज फिर अनेक बड़े देशों में बैंक के नोट । किन्तु

मोहर तो भारत में सम्पूर्ण विनिमय-साध्य विधि-ग्राह्य मुद्रा है क्योंकि उसके बदले भारत की सरकार १३॥ रुपये देने के लिए बाध्य है। पारिभाषिक मुद्रा में कुछ, जैसे कि मोहर, सम्पूर्ण मुद्रा है, और कुछ (जैसे कि युद्ध के बाद बहुत से यूरोपीय देशों में प्रचलित नोट) सांकेतिक मुद्रा है। कई दृष्टियों से विनिमय-साध्य विधि-विहित मुद्रा (जैसे कि बैंक आफ इंग्लैंड के नोट) और सांकेतिक ऐच्छिक मुद्रा (जैसे कि यूनाइटेड स्टेट्स फेडरल रिजर्व नोट) को विनिमय-साध्य सामान्य मुद्रा (Convertible Common Money) की कोटि में एक साथ रखना सुगम होगा।

निर्देशन की सुविधा के लिए इन निष्कर्षों को इस प्रकार रखा जा सकता है—



इस वर्गीकरण से आप देखेंगे कि विचित्र मित्रतापूर्ण सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। रुपया चाँदी के नोट के रूप में प्रकट होने लगता है, या आप चाहें तो कह सकते हैं कि १९१४-१८ के फ्रैंक नोट कागजी सिक्के हैं। मेराया थेरिसा डालर को कुछ अभिमान पी लेना पड़ता है; पुरातन बैल के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट है। फिर भी यही एक ऐसा वर्गीकरण है जो स्पष्ट चिंतन का सर्वोत्तम प्रतीक है।

२. बैंक-मुद्रा का परिमाण

(The Quantity of Bank Money)

§४. **चैक का निक्षेप के साथ सम्बन्ध** (The Relation of Cheques to Deposits)—आधुनिक मुद्रा-प्रणालियाँ इन्हीं विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के आधार पर विविध प्रथाओं और विधि विधान का ध्यान रखते हुए बनी हैं। हम पाठकों को पहले ही सजग कर चुके हैं कि इन सब नियमों और व्यवस्थाओं का सविस्तार विवेचन करना इस छोटी-सी पुस्तक की सीमा के बाहर की बात होगी। किंतु यदि एकनिष्ठ भाव से हम अपने प्रश्न पर विचार करें तो हम इन व्यवस्थाओं के बारे में बहुत कुछ सीख सकते हैं। प्रश्न है: किसी देश विशेष में मुद्रा का परिमाण किस प्रकार निर्धारित होता है? हमारा कार्य और भी सहज हो लेगा यदि हम उन परिस्थितियों की ओर ध्यान न दें जहाँ विदेशों में सृजित मुद्रा देश की मुद्रा-पद्धति का काफी बड़ा अंश होती है जैसा कि अभी हाल तक भारतीय रुपया पूर्वी अफ्रीका में था अथवा मेरिया थेरिया डालर अरब देशों में है। अतः अपने वर्गीकरण के दो भेदों से हमें माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं है—एक तो सम्पूर्ण विनिमय-साध्य ग्राह्य मुद्रा (जैसे भारत में मोहर) और दूसरे सम्पूर्ण ऐच्छिक मुद्रा (जैसे मेरिया थेरिसा डालर)।

हमारा पहला प्रश्न होगा: किसी देश में बैंक-मुद्रा का परिमाण कैसे निर्धारित होता है? इसका उत्तर जानने के लिए हमें ध्यानपूर्वक यह देखना होगा कि बैंक-मुद्रा का सृजन किस प्रकार होता है। यह

तो स्पष्ट है कि चैक, जिसे अब तक हम बैंक-मुद्रा का पर्यायवाची मानते आये हैं, बैंकों में सीधे नहीं उपजते, उनका सृजन तो प्रत्यक्ष रूप से उन लोगों द्वारा होता है जिनके पास चैक-बुक है। एक अनजान व्यक्ति को यह प्रतीत हो सकता है कि जिनके पास चैक-बुक है, वे अपनी मर्जी से जब और जितनी रकम का चाहें चैक काट सकते हैं अर्थात् अपनी मर्जी से चैक-मुद्रा का सृजन कर सकते हैं। लेकिन हम जानते हैं कि वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जिसके पास चैक-बुक है वह उस निश्चित सीमा व रकम तक ही चैक काट सकता है जो उसके और बैंकर के बीच तय होती है। वास्तव में वह साधारणतः इस सीमा के काफी अन्दर ही रहता है। यह कुल रकम जिस तक उसे चैक काटने का अधिकार होता है बैंक में उसका निक्षेप, धरोहर अथवा जमा (deposits) कहलाता है किंतु यह बात ध्यान में रखने की है कि बैंकर इस शब्द को ठीक इसी टेकनिकल अर्थ में प्रयुक्त नहीं करता। जब मैं अपने दूकानदार को दस पौंड का चैक काटकर देता हूँ और वह उसे बैंक में जमा करवाता है, तो जहाँ मेरे खाते में दस पौंड की कमी होती है, वहाँ उसके खाते में दस पौंड की वृद्धि। यद्यपि यहाँ दस पौंड का हस्तान्तरण हुआ है, फिर भी बैंक की कुल जमा राशि में कोई अन्तर नहीं पड़ा। एक निर्दिष्ट समय में बैंक की कुल जमा राशि व निक्षेप और उसी समय में चैक का कुल परिमाण जिसका हस्तान्तरण होता है, उसका सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि एक तो मुद्रा का वह परिमाण है जो वास्तव में है और दूसरा मुद्रा का वह परिमाण है जो उस समय में उपलब्ध होने लगा है। इस समय हमारे अध्ययन का विषय हैं वे शक्तियाँ जो एक देश की कुल मुद्रा-राशि को निर्धारित करती हैं, और यह तो स्पष्ट ही है कि निक्षेप स्वयं ही इस राशि का एक भाग होता है, न कि चैक जो निक्षेपों के आधार पर काटे जाते हैं। जिस निक्षेप के आधार पर चैक नहीं कटते, वह उसी प्रकारसे बैंक-मुद्रा

है, जिस प्रकार से मेरी जेब में पड़ी हुई शिलिंग निष्क्रिय सामान्य मुद्रा है। जब चैक कटते हैं तो बैंक-मुद्रा मानों कुछ समय के लिए आविर्भूत हो गयी हो, उसी प्रकार जैसे बैंक-नोट का प्रचलन सामान्य मुद्रा का कुछ काल के लिए आविर्भूत हो जाना है।

निक्षेप व जमा को हम एक प्रकार का "पावर स्टेशन" या चैकों का स्रोत कह सकते हैं और यद्यपि साधारण बातों के लिए नये नाम गढ़ना गलत और मूर्खतापूर्ण है, तथापि यदि हम एक व्यक्ति के निक्षेप को उसकी चैकरी (Chequery) कहें तो कई बातों को समझने में सहायता मिल सकती है। कारण, निक्षेप जहाँ चैकों की जन्मस्थली है, वहाँ उनसे लौटकर आने की निवास-स्थली भी है, उसी प्रकार जैसे रूकरी (Rookery) रूक पक्षियों का जन्म-स्थान और आश्रय-स्थान दोनों हैं। अतः एक व्यक्ति की 'चैकरी' से हमारा अभिप्राय होगा उसका बैंक में जमा धन व निक्षेप। अतः इस प्रकार कुल व्यक्तिगत चैकरी और कुल बैंक-निक्षेप एक ही वस्तु है।

§२. निक्षेप का सामान्य मुद्रा के सुरक्षित कोष व निधि से सम्बन्ध (The Relation of Deposits to Reserves of Common Money)—इस प्रकार बैंक-मुद्रा का सृजन साधारण जनता द्वारा नहीं किन्तु बैंकरों द्वारा होता है जब कि वे जनता को, जिनके पास चैक-बुक है, चैक काटने का अधिकार अर्पित करते हैं। बैंकर किस तरह ग्राहकों को उधार दी जाने वाली रकम में घट-बढ़ करके अपनी कुल जमा राशि को नियमित करते हैं, तथा इस सारे बैंक-व्यापार का आंतरिक अर्थ क्या है, यह सब एक कठिन एवं महत्त्वपूर्ण विषय है और इसकी व्याख्या के लिए एक अलग परिच्छेद (परिच्छेद पाँच) आवश्यक होगा। इस विषय के विस्तार में जाकर यहाँ हम एक सीधा-सा प्रश्न पूछ सकते हैं। किन आधारों पर बैंकर बैंक की कुल जमा राशि व निक्षेप को निर्धारित करता है? ब्रिटेन में इस निर्णय तक पहुँचने के लिए बैंकरों को खुली छूट है, दूसरे शब्दों में,

हम लगभग यह कह सकते हैं कि यह निर्णय उन लोगों पर निर्भर करता है जो वहाँ के पाँच विशाल सम्मिलित पूँजी बैंकों—बार्कलेज, लायड्स, वेस्टमिन्स्टर, मिड्लैंड और नेशनल प्राविन्शियल—की नीति को निर्धारित करते हैं। किन्तु सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि बैंकर इस राशि की सीमा का अर्थात् निक्षेपों के कुल परिमाण का निर्धारण अपने एक प्रचलित नियम के आधार पर करते हैं। इस नियम के अनुसार उनके निक्षेपों और तथाकथित सुरक्षित निधि व कोष के बीच एक सामान्य अनुपात होना आवश्यक है। ९ और १ का अनुपात इस सम्बन्ध में सुविधा की दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि सभी बैंक इस अनुपात को स्वीकार करते हैं अथवा किसी बैंक विशेष के लिए यह अनुपात अनिवार्यतः लागू होता है। बैंकों के निक्षेप अंशतः उनकी अपनी सामान्य मुद्रा (अनुमानतः दो-तिहाई तक) से और अंशतः बैंक आफ इंग्लैंड की चैकरी से बनते हैं। बैंक आफ इंग्लैंड अपने अन्य निक्षेपों के साथ इन चैकरियों को मिलाकर रखता है। यद्यपि यह बैंक अपने कुल निक्षेपों और सुरक्षित कोष के बीच एक मोटा-सा अनुपात बनाए रखने का लक्ष्य रखता है, फिर भी यह कहना आजकल कठिन है कि यह अनुपात किस प्रकार का है। युद्ध से पूर्व तो यह अनुपात २ और १ से अधिक ही था। यह बात कि बैंक आफ इंग्लैंड का भी अनुपात घट-बढ़ सकता है बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इस पर हम फिर विचार करेंगे। इस समय तो हमारे विवेचन के लिए यह बात कि बैंक आफ इंग्लैंड निश्चित सीमाओं के अन्दर इस अनुपात के घट-बढ़ पर कोई विशेष ध्यान नहीं देता सत्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अर्धभाग है। बैंक आफ इंग्लैंड के कोष सम्पूर्णतः सामान्य मुद्रा से, अर्थात् अपने ही नोटों से बनते है। इस जरा-सी पेचीदगी से लाभ यह होता है कि जो लोग विभिन्न बैंकों से सरोकार रखते हैं, उनके चैकों के हस्तान्तरण में सुविधा हो जाती है। यदि राम, जिसका सम्बन्ध 'क' बैंक के साथ है,

मोहन को जिसका सम्बन्ध 'ख' बैंक के साथ है, दस पौंड का चैक देता है तो 'ख' बैंक मोहन से चैक मिलने पर 'क' बैंक को भुगतान के लिए चैक भेज देगा और 'क' बैंक उसका भुगतान करने के लिए बैंक आफ इंग्लैंड में जमा अपनी चैकरी के आधार पर दस पौंड का चैक काट देगा। वास्तव में बात यह है कि बड़े-बड़े बैंकों के बीच इस प्रकार के लेन-देन विभिन्न दिशाओं में इतनी बड़ी और स्थायी संख्या में होते रहते हैं कि बैंक समाशोधन गृह (Clearing House) नाम की संस्था के माध्यम द्वारा बहुत-से चैकों का परस्पर भुगतान कर देते हैं। किन्तु बैंक आफ इंग्लैंड में चैकरी जमा रहने से इस प्रकार की रीति से जो लेन-देन फिलहाल बाकी रह जाता है उसका भुगतान सुगमता-पूर्वक हो जाता है।

इस व्यापार को भली भाँति समझना आवश्यक है। आगे आने वाली बहुत-सी कठिनाइयाँ सहल हो सकती है यदि हम इस समय एक ही बैंक के अस्तित्व को स्वीकार कर आगे बढ़ें। बहुत-से बैंकों के रहने पर पारस्परिक लेन-देन के कारण जो अड़चनें उत्पन्न होती हैं, वे बैंक आफ इंग्लैण्ड में उनकी चैकरी के द्वारा दूर की जा सकती हैं। इन कठिनाइयों का अनुमान हम स्वयं अपनी कल्पना द्वारा कर सकते हैं। इस समय तो जो महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देने की है, वह यह है कि बैंकों को इन चैकरियों को अपने निक्षेप का एक अंग मानने की आदत पड़ गयी है। परिणामस्वरूप जनता की चैकरियों की कुल राशि और बैंकों के पास सामान्य मुद्रा के कुल वास्तविक कोष का अनुपात बैंकर की कुल जमा राशि और उसके नाममात्र "कोष" सामान्य रिजर्व के अनुपात से बहुत अधिक हो जाता है जो कि व्यक्तिगत बैंकर के हिसाब और ध्यान की प्रत्यक्ष बात है। किन्तु इससे मूल प्रसंग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अर्थात् निक्षेप का परिमाण अंततः सामान्य मुद्रा के कुल कोष के आधार पर ही निर्धारित होता है।

यदि हम यह पूछें कि कुल निक्षेप का सम्बन्ध कुल सामान्य मुद्रा

के साथ क्यों है तो इसका उत्तर खोजना कठिन नहीं है। यह उत्तर तो इसी तथ्य में निहित है कि बैंक मुद्रा परिवर्तनीय है। चैक काटने के अधिकार का अर्थ हुआ चैक भुगतान कराने का अधिकार, अर्थात् जिस बैंक की चैक-बुक है उसके द्वारा चैक को सामान्य मुद्रा में परिवर्त्तित कराने का अधिकार। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि यदि चैकरी का कोई अंश सामान्य मुद्रा के रूप में खर्च हो जाता है तो उसी अनुपात में चैकरी का परिमाण कम हो जायगा। जिन लोगों के पास चैक-बुक हैं, वे सभी एक सीमा तक नित्यप्रति की साधारण रकमों के भुगतान के लिये सामान्य मुद्रा की प्राप्ति के हेतु चैक को नकदी में परिवर्तन कराने के अधिकार का प्रयोग करते हैं। और पूँजीपति तो सामान्य मुद्रा में मजदूरी चुकाने के लिए इस अधिकार को बड़े पैमाने पर इस्तेमाल करते हैं। इसलिए जो बक चैक काटने का अधिकार लोगों को सौंपता है उसके पास चैकों को सामान्य मुद्रा में परिवर्त्तित करने का प्रचुर साधन भी होना चाहिए। अतः इसमें आश्चर्य की बात कोई नहीं यदि बैंक अपने निक्षेप की व्यवस्था कुछ सीमा तक सामान्य मुद्रा की उस मात्रा के आधार पर करे जो या तो उनके पास मौजूद है अथवा बिना कठिनाई के उन्हें प्राप्त हो सकती है।

§६. **बैंक-कोष का परिमाण** (The Magnitude of Bank Reserves)—किंतु यदि हम यह प्रश्न करें कि इंग्लैंड के बैंकों ने यह अनुपात ९ और १ का क्यों बना रखा है, तो इसका उत्तर इतना आसान नहीं है। कुछ देर के लिए हम एक काल्पनिक बैंक-पद्धति पर विचार करें जो केवल सुचारु रूप से ही नहीं चलती (जैसी हमारी चलती है), किंतु पूर्णतः समभाव से भी चलती है जैसे एक दिन से दूसरे दिन या एक सप्ताह से दूसरे सप्ताह (निःसंदेह हमारी व्यवस्था इस प्रकार नहीं चलती)। फिर तो कोई कारण नहीं कि इस प्रकार की बैंक-प्रणाली सामान्य मुद्रा का कोई कोष अपने पास रखे, क्योंकि जो सामान्य मुद्रा बैंकों के भुगतान में बैंक से चली जाती है वह सदा

प्रचलन में ही नहीं रहती। लोग व्यापारियों और दूकानदारों को चीजों के बदले मुद्रा देते हैं, और वे लोग उसे फिर बैंकों में जमा करवा देते हैं जिससे उनकी चैकरियों में उसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है। कोई भी बैंक-प्रणाली जो सदा सामान्य मुद्रा तो लोगों को देती रहे, और उसे कभी वापस न पावे, स्थिर नहीं रह सकती। किंतु यदि बैंक से बाहर जाने वाली और बैंक में जमा होने वाली सामान्य मुद्रा में समगति हो तो कोई कारण नहीं कि बैंक की तिजोरियों में सदा सामान्य मुद्रा स्थिर रहे। बैंक-प्रणाली का यदि एक क्षणिक चित्र लिया जाय तो उसमें निक्षेपों का बहुत भण्डार और सामान्य मुद्रा का कोई भी कोष सम्भवतः दिखाई न देगा।

निस्सन्देह जहाँ तक किसी वास्तविक प्रणाली का प्रश्न है बात ऐसी नहीं है। चैकबुक वाले बाबुओं की सामान्य मुद्रा निकालने की आवश्यकता और दूकानदार आदि लोगों को सामान्य मुद्रा जमा करने की इच्छा एवं शक्ति में दिन और ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। अतः हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि बैंक के पास किसी क्षण में सामान्य मुद्रा की एक थोड़ी सुरक्षित राशि दिखाई पड़े। सामान्य मुद्रा के आवागमन में उसके पास यदि किसी समय किसी कारण कम मुद्रा आयी तो भी सुरक्षित राशि के कारण उसे किसी अड़चन का सामना नहीं करना पड़ता। अपने अनुभवों के आधार पर बैंकर इस सुरक्षित राशि की सीमा का निर्धारण करते हैं। अनुभव उन्हें बताता है कि इस आवागमन का क्रम प्रायः किस प्रकार चलता रहता है। किंतु यह भी बात नहीं कि सदैव यही स्थिति बनी रहती हो। यह सुरक्षित राशि सदैव इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जितनी आवश्यक होगी उससे कहीं अधिक बड़ी होती है, यद्यपि इसका औसत स्तर उतना ऊँचा नहीं होता जितना बैंक के मासिक हिसाब-किताब के आधार पर एक नौसिखिया व्यक्ति अनुमान लगाता है।

क्या बैंकर लोग इस सुरक्षित रशि को इतना अधिक रखते हैं कि

आवश्यकता पड़ने पर उससे संभवतः सारा काम निकाला जा सके ? स्पष्टतः इतनी बड़ी तो राशि होती नहीं। यदि चैक बहुत अधिक कटने लगें, या व्यापारियों की ओर से सामान्य मुद्रा कम जमा होने लगे, तो सुरक्षित राशि पर्याप्त न होगी। जब तक सामान्य मुद्रा के कोष और निक्षेप के बीच शत-प्रतिशत का अनुपात न हो, तब तक सभी सम्भव आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। बैंकर लोग वास्तव में जिस सुरक्षित राशि से साधारणतः काम चल सकता है और जो सुरक्षित राशि सभी परिस्थितियों के लिए उपयुक्त होती है उनके बीच एक प्रकार का समझौता बनाए रखते हैं और यह समझौता मुख्यतः आदत और बैंक के ग्राहकों में बैंक की स्थिरता में विश्वास बनाए रखने की आवश्यकता के आधार पर निर्भर करता है, न कि इस प्रकार के लेखे-जोखे पर कि कल स्थिति सम्भवतः किस प्रकार की होगी और किस प्रकार की नहीं।

इस प्रसंग को कुछ विस्तार के साथ इसलिए समझाना पड़ा है कि इसके सम्बन्ध में कई प्रकार की भ्रांतियाँ प्रचलित है, और ये भ्रांतियाँ केवल जन-साधारण के लिए ही नहीं है। लोग प्रायः इस तरह सोचते हैं मानों सुरक्षित कोष और निक्षेप के बीच कोई महत्त्वपूर्ण अनुपात रहता हो, और जब तक उस अनुपात का निर्वाह नहीं किया जाता— भले ही वह इंग्लैण्ड का १ : ९ का अनुपात हो या कोई अन्य और— तब तक बैंक-प्रणाली सम्मानित नहीं दिखाई पड़ती और उस अनुपात के पा लेने पर कोई भी बैंक-प्रणाली बिल्कुल सुदृढ़ हो सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि कुछ अवस्थाओं में तो बैंक बिना किसी कोष के भी सफलतापूर्वक अपना काम चला सकते हैं, और कुछ अवस्थाओं में शत-प्रतिशत कोष के बिना उनका काम चलना कठिन हो जाता है।

यूरोपीय देशों में बैंक-मुद्रा के परिमाण का नियंत्रण, जिसका अभी तक कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा है, इंग्लैण्ड की तरह बैंकों की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है किन्तु अमेरिका में, जहाँ बैंक-

मुद्रा को मुद्रा-प्रणाली में उतना ही महत्व प्राप्त है जितना इंग्लैंड में, कानून ने अपना प्रभुत्व जमा लिया है। जो बैंक (और ये देश के दो-तिहाई बैंक सम्बन्धी साधनों को नियंत्रित रखते हैं) राष्ट्र-व्यापी बैंकिंग व्यवस्था के सदस्य हैं, उन्हें कानूनन सुरक्षित कोष का एक निश्चित अनुपात रखना ही पड़ता है, यह अनुपात माँग निक्षेप (Demand Deposit) पर कम-से-कम १० प्रतिशत होता है जिसके आधार पर बिना पूर्व सूचना के चैक काटे जा सकते हैं, और समय निक्षेप (Time Deposit) पर तीन प्रतिशत जिसके आधार पर चैक काटने के लिए एक महीने की पूर्व सूचना देनी पड़ती है। अमेरिका के बारह फैडरल रिजर्व बैंक जिनका अमेरिका में प्रायः वही स्थान है जो बैंक आफ इंग्लैंड का इंग्लैंड में, निक्षेप का कम-से-कम ३५ प्रतिशत सुरक्षित कोष के रूप में रखने के लिए बाध्य हैं, यद्यपि यह कोष सामान्य मुद्रा में न होकर सोने के सिक्के या धातु में होता है। ऐसी कानूनी व्यवस्था के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जैसा कि मानव स्वभाव है, कानून प्रायः उस बात को प्रोत्साहन देता है जिसे वह स्पष्ट रूप से मना नहीं करता और फलस्वरूप बैंक कानून का सहारा लेकर सुरक्षित कोष को कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम अनुपात के निकट ही रखने का प्रयत्न करेंगे। ऐसी दशा में यदि सामान्य मुद्रा के लिए अप्रत्याशित रूप से अधिक माँग हो गयी हो तो या तो बैंक को कानून का उल्लंघन करना पड़ेगा या अपने दिवालिएपन का ढिंढोरा पीटना पड़ेगा, यद्यपि उसका सुरक्षित कोष समाप्त होने से अभी बहुत दूर हो। यह तो स्पष्ट है कि यदि कोष निक्षेप का ठीक २० प्रतिशत है, तो एक डालर के चैक को भुनाने से कोष और निक्षेप दोनों में एक-एक डालर की कमी हो जायगी, और फलस्वरूप कोष निक्षेप का अनुपात २० प्रतिशत से नीचे गिर जायगा, और यदि मान लें कि २० प्रतिशत ही विधि-विहित अंक है, तो कानून टूट जायगा। यदि लोक-विहित अनुपात

स्वच्छन्द और भ्रामक है तो ऊपरी तौर से कानून द्वारा निर्धारित अनुपात निश्चय ही गलत दिखाई पड़ता है। वह भी क्या लोक-नियम जो काल के जबड़ों में भी मान्य हो; यह तो नियम का उपहास है। इस आलोचना के उत्तर में कहा जा सकता है (यद्यपि धीमे शब्दों में) कि युद्ध की भांति वित्त के सम्बन्ध में, कानून इसीलिए बनते हैं कि अवसर पड़ने पर उनका उल्लंघन किया जा सके, और उनका ध्येय यह नहीं होता कि अमुक काम कभी किया ही नहीं जायेगा, वरन् यह कि बिना किसी विशेष कारण के वह न किया जाय। निस्सन्देह अमेरिकन कानून कट्टरता से बचे रहने का भरसक प्रयत्न करता है। एक तो साधारण बैंकों पर यह अंकुश रहता है कि वे अपने सारे कानूनी कोष को रिजर्व बैंकों में चैकरी के रूप में रखें ताकि जहाँ सुरक्षा के लिए उन्हें अपनी तिजोरियों में कुछ सामान्य मुद्रा रखना जरूरी हो जाता है, वहाँ वे न्यूनतम कानूनी अनुपात के भरोसे भी नहीं रह सकते। दूसरे, यदि उनके कोष में कमी आ जाय तो वे कुछ दशाओं में, जिनका विवेचन आगे किया जायगा, रिजर्व बैंकों से उधार ले सकता है। रिजर्व बैंक उनके लिए उसी प्रकार चैकरी प्रस्तुत करता है जैसे निजी बैंक अपने ग्राहकों के लिए करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे कारण भी हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा, जिनके चलते रिजर्व बैंक कोष का अनुपात कानून जितना बाध्य करता है उससे कहीं अधिक रखते हैं। परिणाम यह होता है कि वे साधारण बैंकों को अधिक उधार भी दे सकते हैं, और उनकी सामान्य मुद्रा की आवश्यकता को भी बिना कानून का उल्लंघन किए सुचारु रूप से पूर्ण कर सकते हैं।

§७. निक्षेपों का बैंक कोषों के अतिरिक्त सामान्य मुद्रा से सम्बन्ध (The Relation of Deposits to Common Money outside Bank Reserves)—**किसी भी देश में बैंकों के अन्दर बैंक-मुद्रा और सामान्य मुद्रा का जो** अनुपात स्थिर किया जाता है,

भले ही लोक-विहित प्रथा के द्वारा या कानून के द्वारा, वह कुछ कृत्रिम और स्वच्छन्द लगता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि बैंकों के बाहर प्रचलन में बैंक-मुद्रा और सामान्य मुद्रा के बीच जो सम्बन्ध होता है, वह स्वाभाविक और आवश्यक है। कोई भी बैंक-व्यवस्था, भले ही वह काल्पनिक ही क्यों न हो जैसा कि हमने ऊपर मान लिया था और जिसमें सामान्य मुद्रा की कोई सुरक्षित राशि नहीं भी हो, चलते-चलते बन्द हो जायगी यदि किसी समय बैंकों के अन्दर आने वाली सामान्य मुद्रा का प्रवाह निक्षेपों के परिमाण की तुलना में एकदम कम हो जाय। लोगों की आदत और लोक-प्रथा के कारण चैकों के द्वारा भुगतान और सामान्य मुद्रा के द्वारा भुगतान के बीच किसी भी समय एक प्रकार का अनुपात बना रहता है। कोई व्यक्ति अपने परिचित दूकानदार का भले ही चैक में भुगतान कर दे, किन्तु अपरिचित व्यक्तियों के साथ, अथवा रेलवे स्टेशन पर टिकट लेते समय उसे सामान्य मुद्रा का ही प्रयोग करना पड़ेगा। यह अनुपात सर्वदा एक ही नहीं रहता। उदाहरण के लिए यदि मजदूर वर्ग बैंकों में बहुत बड़ी संख्या में हिसाब रखने लग जायें और मजदूरी चैकों के रूप में लेने लगें, तो प्रचलन में सामान्य मुद्रा की तुलना में निक्षेप का अनुपात बहुत अधिक बढ़ जायगा। निःसन्देह समाज की आदतों पर इस दृष्टि से बैंक अपना प्रभाव क्रमशः डाल सकते हैं, किन्तु वे न तो उन्हें आमूल बदल सकते हैं, और न पूर्णतः उन पर नियंत्रण ही रख सकते हैं। जब तक लोगों की आदतों में परिवर्तन नहीं आता, और जब तक वे अपने चैक-बुक के आधार पर बैंकों से सामान्य मुद्रा माँग सकते हैं, तब तक प्रचलित सामान्य मुद्रा के परिमाण और बैंक-निक्षेप के अनुपात में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता। अतः जिस बैंक के निक्षेप में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, वे यह अनुभव करने लगते है कि सामान्य मुद्रा का बहिर्गामी प्रवाह अंतर्गामी प्रवाह से बहुत अधिक बढ़ गया है। यह इसलिए कि साधारण लोग बैंक

मुद्रा की अभिवृद्धि के कारण अधिक सामान्य मुद्रा तो प्राप्त करना चाहेंगे, किन्तु जो उनके पास है उससे विलग होना नहीं। इन परिस्थितियों में हमारी काल्पनिक बैंक-व्यवस्था तो शीघ्र चौपट हो जायगी। कारण सामान्य मुद्रा के बहिर्गामी और अन्तर्गामी प्रवाह की जिस समरसता पर वह आश्रित है वह स्वयं स्थिर नहीं रह सकती। अतः बैंक मुद्रा और सामान्य मुद्रा का सम्बन्ध आंशिक रूप से बैंकर की कोष सम्बंधी स्वच्छन्द धारणाओं एवं लोक-विहित प्रथाओं पर निर्भर करता है, और आंशिक रूप से समाज की कुछ मूलभूत व्यावसायिक प्रवृत्तियों और अभ्यासों पर यद्यपि ये प्रवृत्तियाँ और अभ्यास सतत एक नहीं रहते।

एक बात और। इस प्रकरण में हम विशेष रूप से बैंक-मुद्रा और सामान्य मुद्रा के सम्बन्धों को समझने में व्यस्त रहे हैं। किन्तु जहाँ तक कानून का प्रश्न है वह सामान्य मुद्रा पर, जो विधि विहित नहीं है, ध्यान नहीं देता जबकि अमुद्रित स्वर्ण पर तो कभी-कभी कृपादृष्टि डाल भी देता है जो मुद्रा ही नहीं है। जहाँ तक वास्तविक प्रयोग की बात है सामान्य मुद्रा की राशि और प्रवाह कुछ तो विधि-विहित मुद्रा से बनती है, कुछ सहायक मुद्रा से और आंशिक रूप में कुछ देशों में सांकेतिक ऐच्छिक मुद्रा से भी। किन्तु सहायक मुद्रा के परिमाण पर सभी देशों में सरकार वहाँ के लोगों की आदतों के अपने अनुभव के आधार पर विधिग्राह्य मुद्रा के परिमाण के किसी अनुपात में प्रतिबन्ध लगाए रखती है और सांकेतिक ऐच्छिक मुद्रा का परिमाण भी जहाँ उसका अस्तित्व होता है विधि-विहित मुद्रा या अटंकित स्वर्ण के परिमाण की दृष्टि से नियंत्रित होता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। अतः जिस तथ्य पर हम पहुँचते हैं वह यह है कि बैंक मुद्रा का परिमाण विधि-विहित मुद्रा और अटंकित या अमुद्रित स्वर्ण के परिमाण से नियंत्रित होता है। इस प्रसंग में स्वर्ण किस प्रकार आता है, इस पर अब हम विचार करेंगे।

३. सामान्य मुद्रा का परिमाण

(The Quantity of Common Money)

§८. **विनिमय-साध्य सामान्य मुद्रा का सुरक्षित कोष से सम्बन्ध** (The Relation of Convertible Money to Reserves)—अब हमारा कार्य यह है कि परिवर्तनीय अथवा विनिमय-साध्य सामान्य मुद्रा जिस प्रकार निर्धारित होती है उस पर विचार करें। (पाठक कृपया अपना ध्यान प्रथम प्रकरण में दी हुई परिभाषा की ओर ले जावें)। इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि उस देश में पारिभाषिक मुद्रा का सक्रिय रूप से प्रचलन है भी अथवा नहीं। युद्ध से पूर्व तो बहुत-से यूरोपीय देशों में सोने के सिक्कों के रूप में पारिभाषिक मुद्रा प्रचलित थी, और अब भी अमेरिका, स्वीडन, नार्वे, तथा कतिपय ब्रिटिश उपनिवेशों में इसका प्रचलन है। इन परिस्थितियों में परिवर्तनीय विधि-विहित मुद्रा का पारिभाषिक मुद्रा के साथ अनुपात लोगों की आदतों से उसी प्रकार प्रभावित होता है जिस प्रकार साधारणतः बैंक-मुद्रा का अनुपात सामान्य मुद्रा के साथ। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि युद्ध के कारण लोगों की आदतों में काफी परिवर्तन आया है। जहाँ आज सोने के सिक्के उपलब्ध हैं, वहाँ भी लोग उन्हें प्राप्त अथवा प्रयोग करने के लिए कोई उत्सुकता प्रकट नहीं करते। यह तो हम देख ही चुके हैं कि इंगलैंड में बैंक आफ इंगलैंड के नोट आजकल सोने के सिक्कों में परिवर्तित नहीं हो सकते। किन्तु यदि ऐसा हो तो भी बहुत-से लोग यह स्वीकार करेंगे कि उसके पीछे जनता भागेगी नहीं। परिवर्तनीय होने के आश्वासन से लोगों को वैसा ही संतोष मिलेगा जैसा दूर से गिरजे की घंटी सुनने से मिलता है; दोनों ही अवस्थाओं में लोग विशेष सजग नहीं होते।

फिर भी सभी देशों में विनिमय-साध्य सामान्य मुद्रा के परिमाण को सीमित करने का एक दूसरा साधन होता है; वह है कानून। इस

विषय में बैंक-मुद्रा के सम्बन्ध में तो वह अपना अधिकार और प्रभाव दिखाता ही है, पर इस सम्बन्ध में साधारणतः उससे भी कहीं अधिक दिखाता है। कभी-कभी कानून कुछ प्रकार की परिवर्तनीय विधि-ग्राह्य मुद्राओं की कुल राशि को भी सीमित करता है, जैसे युद्ध से पूर्व बैंक आफ फ्रांस के नोटों के साथ होता था। और अब भी अमेरिकन सामान्य मुद्रा के एक प्रकार 'ग्रीन बैंक' अर्थात यूनाइटेड स्टेट्स के नोटों की सीमा का निर्धारण कानून द्वारा होता है। अधिकतर कानून उस कोष के सम्बन्ध में नियम निश्चित करता है जो सरकार और बैंक के पास होना आवश्यक है—यह कोष उस परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा के लिए आवश्यक है जिसे सरकार और बैंक प्रचलित करने का अधिकार रखते हैं। इस कोष के स्वरूप के सम्बंध में हम फिर विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे। इस समय तो इतना कहकर ही अपना काम हल्का कर सकते हैं कि वह कोष मानो पूर्णतः पारिभाषिक मुद्रा से ही निर्मित होता है। सुरक्षित कोष और विनिमय-साध्य या परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए, इस विषय में मुख्यतः दो वैकल्पिक रीतियाँ प्रचलित हैं। अंग्रेजी रीति, जिसका श्री गणेश १८४४ के सुप्रसिद्ध बैंक एक्ट के साथ हुआ था, परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा के अरक्षित भाग (Uncovered or Fiduciary Portion) को सीमित करने की है—अर्थात् कुल निर्गमित मुद्रा के उस भाग को सीमित करने की है जो कोष की निर्धारित रकम से अधिक हो। १९२८ तक बैंक आफ इंगलैंड का अरक्षित भाग एक निश्चित मात्रा में कानून द्वारा सीमित था जो उस वर्ष करीब २०० लाख पौंड था। १९१९ से १९२८ तक कोष-पत्र मुद्रा (Treasury Notes) का अरक्षित भाग, जिसे १९१४ से सरकार प्रचलित कर रही थी; कानून से तो नहीं लेकिन कोष-आदेशों व नियमों से उसी प्रकार सीमित था। १९२८ में बैंक आफ इंगलैड में दोनों निर्गमनों को एक में मिलाने की व्यवस्था कर दी गयी और दूसरे निर्गमन के

अरक्षित भाग को फिर से २६०० लाख पौंड की सीमा पर (यद्यपि अपरिवर्तनीय ढंग से नहीं) निश्चित किया गया।

इंगलैंड के अतिरिक्त लगभग अन्य सभी जगहों पर नियंत्रण का दूसरा तरीका व्यवहार में लाया जाता है जो परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा के लिए एक न्यूनतम अनुपात निर्धारित करता है। जैसे कि अमेरिका में दो प्रकार की परिवर्तनीय विधि-ग्राह्य मुद्राओं (स्वर्ण और रजत प्रमाणपत्रों) के पीछे शत-प्रतिशत कोष रखना होता है, दो प्रकार की सांकेतिक ऐच्छिक मुद्रा (नेशनल बैंक और फैडरल रिजर्व बैंक के नोटों) के लिए ५ प्रतिशत का कोष और शेष लेकिन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार की मुद्रा (फैडरल रिजर्व नोटों) के लिए ४० प्रतिशत का कोष रखा जाता है। यूरोपीय देशों में जहाँ नोटों के प्रचलन का अधिकार अधिकतर केन्द्रीय बैंकों के हाथ में है, इसी प्रकार की व्यवस्था मिलती है। रीख्स बैंक को अपने निर्गमित नोटों का ४० प्रतिशत का कोष, बैंक आफ फ्रांस को ३५ प्रतिशत का कोष और रशियन स्टेट बैंक को २५ प्रतिशत का कोष रखना पड़ता है।

इन दो रीतियों के लाभों का सम्यक विवेचन हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हम भली प्रकार यह न जान लें कि मुद्रा की पूर्ति से हम किस प्रकार के व्यवहार की आशा करते हैं अथवा उससे हम क्या काम लेना चाहते है। किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि निश्चित प्रात्यमिक व अरक्षित पद्धति (Fixed Fiduciary System) आनुपातिक प्रणाली के दोष से तो मुक्त है—जिसे हम बैंक मुद्रा के सम्बन्ध में देख चुके हैं। यह दोष उसी प्रकार का है जैसे कोई नगर-पालिका टैक्सियों की कमी की पूर्ति इस आदेश द्वारा करने चले कि प्रत्येक पंक्ति में एक टैक्सी सदैव होनी चाहिए। रीख्स बैंक के विपरीत बैंक आफ इंगलैंड तब तक कानून भंग नहीं करेगा जब तक कि वह अपने रिजर्व की अन्तिम पेनी भी नहीं दे डालेगा। दूसरी ओर, आनुपातिक प्रणाली के अपने लाभ हैं। परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा की पूर्ति

में इसके द्वारा सरलता से वृद्धि हो सकती है। यदि रीख्स बैंक के कोष में एक मार्क की वृद्धि हो तो वह नोटों की संख्या में २½ मार्क की वृद्धि कर सकता है, किन्तु रिजर्व बैंक आफ इंगलैंड के कोष में एक पौंड की वृद्धि हो तो वह केवल एक ही पौंड तक के अधिक नोट निकाल सकता है। आनुपातिक प्रणाली के लिए यह बात लाभदायक है अथवा नहीं, इस पर हम अपना निर्णय फिर देंगे।

§९. **कोष का स्वरूप** (The Composition of Reserves) —यदि यह सत्य हो कि बैंक-मुद्रा के लिए बैंक-प्रणाली के कोष पूर्णतः विधि-विहित मुद्रा से और परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा के लिए कोष पूर्णतः पारिमाणिक मुद्रा से निर्मित होते हैं तो इन दोनों परिणामों को एक में मिलाते हुए हम अब एक कदम आगे बढ़कर यह भी कह सकते हैं कि किसी देश की मुद्रा की कुल मात्रा अंततः उसकी पारिभाषिक मुद्रा के अनुरूप निर्धारित होती है। यद्यपि परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा का परिमाण सदैव सीधे कोष के अनुरूप नियंत्रित नहीं किया गया है, जैसा कि हम देख चुके हैं, तथापि परिवर्तनीय होने के कारण व्यवहार में इनके बीच एक प्रकार का सम्बन्ध बनाए रखा जाता है। किंतु वास्तव में हम यह कदम उठाने से रुक जाते हैं। यह तो कोई बड़ी बात नहीं है कि कुछ प्रकार की सांकेतिक ऐच्छिक मुद्राओं (जैसे अमेरिकन फेडरल रिजर्व[1] और राष्ट्रीय बैंक नोट) के लिए कोष पारिभाषिक मुद्रा से पृथक् परिवर्तनीय विधि-विहित मुद्रा से बनते हों क्योंकि परिवर्तनीय विधि-ग्राह्य मुद्रा की पूर्ति स्वयं नियंत्रित होती है। किन्तु इस बात में विशेष तत्व है कि जैसे कि हम देख चुके हैं, बैंक-मुद्रा के समकक्ष जो कोष होता है, वह आंशिक रूप में अमुद्रित स्वर्ण से बनता है, और अब इतना और कहना पर्याप्त होगा कि बहुत-से देशों में आज परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा के पीछे जो कोष होता है वह आंशिक

१. इनके पीछे जो कोष होता है वह अंशतः स्वर्ण प्रमाणपत्र कहलाता है।

रूप में अमुद्रित सोने से और आंशिक रूप में उन वस्तुओं से बनता है जो सरसरी निगाह से देखने पर पारिभाषिक मुद्रा से बहुत कम मिलते जुलते हैं—अर्थात् विदेशी प्रतिभूतियाँ और विदेशी बैंकों के साथ चैकरियाँ। अतः अमुद्रित सोने और विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा विदेशी बैंकों के साथ चैकरियों के सम्बन्धों को जब तक हम गौर से न देख-भाल लें तब तक हमारा काम नहीं चल सकता। और यहाँ हम सीधे दो महत्त्वपूर्ण विषयों के समक्ष अपने को पाते हैं—एक तो स्वर्ण मान (Gold Standard) और दूसरा विदेशी विनिमय (Foreign Exchange)।

अध्याय : : ४

स्वर्ण-मान

(The Gold Standard)

"बिजली का कारण मेघ-घोष है," एलिस ने निश्चयात्मक रूप से कहा, क्योंकि इस सम्बन्ध में उसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था, किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपनी भूल का परिमार्जन करना चाहा, "नहीं, नहीं, मेरा अभिप्राय ठीक इसके विपरीत है।"

"अब संशोधन के लिए समय नहीं रहा," रेड क्वीन बोली, "एक बार जब तुम कुछ कह चुकीं तो वह बात पक्की हो गयी, और उसके परिणाम के लिए तुम्हें तैयार रहना चाहिए।"

—थ्रू दि लुकिंग ग्लास

§१. स्वर्णपाट तथा स्वर्णचलन पद्धतियाँ (The Gold Bullion and Gold Circulation System)—स्वर्णमान से हमारा क्या अभिप्राय है, इस सम्बन्ध में जब हम कुछ कहने का प्रयत्न करते हैं, तब हमें फिर इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि जीवन के तथ्य पाठ्य-पुस्तकों की सीमाओं में आबद्ध नहीं रहते। किन्तु इस बार फिर हमें साहस से काम लेना चाहिए, और शब्दों को निश्चित अर्थ प्रदान करना चाहिए, उन्हें कुहेलिका में छोड़ने से कोई लाभ नहीं। इस पुस्तक में 'स्वर्ण मान' का प्रयोग उस स्थिति के लिए किया जायगा जिसमें एक देश अपनी मुद्रा की इकाई के मूल्य को और स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के मूल्य को बराबर रखता है। पाठक इस परिभाषा पर कृपया विशेष ध्यान दें, कारण, आगे चलकर

वे अनुभव करेंगे कि इस परिभाषा को यों रखने में कितनी चतुराई काम कर रही है।

मुद्रा का मूल्य, अन्य बातों के अतिरिक्त, उसकी प्रस्तुत मात्रा पर निर्भर करता है, अतः इसके मूल्य को स्वर्ण के निर्धारित वजन के मूल्य के बराबर रखने की नीति अपनाने के लिए मुद्रा-पूर्ति का नियंत्रण आवश्यक है और साथ ही इसके लिए केन्द्रीय मुद्राधिकारी से (चाहे वह सरकारी या केन्द्रीय बैंक, अथवा दोनों से सम्बद्ध हो) अटूट एवं सजग कार्य-व्यापार की अपेक्षा की जाती है। किन्तु यदि केन्द्रीय अधिकारी उन नियमों का पालन (जिनका विवेचन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं) तनिक भी तत्परता से करें, तो ऐसे भी कई उपाय निकल आयेंगे जिनके द्वारा कार्य-व्यापार के लिए सजग निष्ठा के स्थान पर स्वतः प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी। इनमें सबसे स्पष्ट उपाय तो यह है कि केन्द्रीय अधिकारी पर यह उत्तरदायित्व हो कि एक ओर तो उसे परिवर्तनीय मुद्रा की कम-से-कम एक प्रमुख कोटि को एक निश्चित दर पर अमुद्रित स्वर्ण में बदलना पड़ेगा, और दूसरी ओर अमुद्रित स्वर्ण को निश्चित दर पर खरीदना होगा। इस अवस्था में यदि मुद्रा का मूल्य निर्धारित स्वर्ण के वजन के मूल्य से अधिक होने लगेगा तो मुद्राधिकारी के हाथ लोग सोना बेचने लगेंगे, और इस प्रकार रिजर्व सम्बन्धी नीति में परिवर्तन किए बिना ही मुद्रा-पूर्ति में वृद्धि सम्भव हो जायगी और फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य गिर जायगा। इसके विपरीत, यदि मुद्रा का मूल्य निर्धारित स्वर्ण के वजन के मूल्य से नीचे गिरने लगेगा तो लोग मुद्रा अधिकारी के पास मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित कराने के लिए पहुँचेंगे, और यदि अधिकारी अपनी रिजर्व-सम्बन्धी नीति में कोई परिवर्तन नहीं लाना चाहता तो उसे मुद्रा पूर्ति में कमी करनी होगी, और तद्स्वरूप मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होने लगेगी। ब्रिटेन में अभी यही व्यवस्था चल रही है। वहाँ बैंक आफ इंगलैंड प्रामाणिक स्वर्ण ३ पौण्ड १७ शिलिंग ९ पैंस प्रति औन्स के

भाव खरीदने और अपने नोटों के विनिमय में ३ पौन्ड १७ शिलिंग १०½ पैंस प्रति औन्स के भाव सोने की पाटें (जिनका वजन कम-से-कम ४४० पौण्ड हो) बेचने के लिए बाध्य है । इस व्यवस्था को स्वर्ण पाट पद्धति (Gold Bullion System) कहते हैं, और यह स्वाभाविक है कि जहाँ यह पद्धति प्रचलित हो वहाँ स्वर्णपाट, अर्थात् अमुद्रित स्वर्ण, रिजर्व-सम्बन्धी नियमों के बनाने में विशेष महत्व रखता है ।

उन देशों में (जैसे युद्ध से पूर्व इंगलैंड में) जहाँ सम्पूर्ण पारिभाषिक स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन होता है, कुछ अधिक विशद प्रणाली प्रयुक्त होती हैं । वहाँ केन्द्रीय अधिकारी पर यह उत्तरदायित्व होता है कि वह एक ओर तो परिवर्तनीय मुद्रा की किसी एक प्रमुख कोटि को एक निश्चित दर पर स्वर्ण-मुद्रा में बदले और दूसरी ओर स्वर्ण को स्वर्ण-मुद्रा में उस दर पर बदले जो मुद्रण के खर्च से अधिक न हो । युद्ध से पूर्व स्वर्ण-मुद्रा का होना राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था, और जिस देश में ऐसी व्यवस्था नहीं होती थी वहाँ स्वर्ण मान नहीं माना जाता था । मान के सम्बन्ध में हमारी जो धारणा है उसके अनुसार यह जो "स्वर्ण चलन पद्धति" (Gold Circulation System) है वह केवल एक उपाय है, जिसके द्वारा "स्वर्ण मान" को अक्षुण्ण रखा जा सकता है ।

इस व्यवस्था के प्रथम भाग को उस स्थिति में, जहाँ मुद्रा का मूल्य निर्धारित स्वर्ण के मूल्य से कम हो गया हो, सफल बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय अधिकारी से प्राप्त स्वर्ण मुद्रा को अमुद्रित स्वर्ण में परिवर्तित किया जाय, अथवा विदेशों में उपयोग के लिए निर्यात किया जाय । अन्यथा इसका मूल्य मुद्रा-पूर्ति की अन्य इकाइयों के मूल्य से अधिक नहीं होगा और लोगों में इसे पाने के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं रहेगा । १९१४ और १९२५ के बीच जब इंगलैंड में स्वर्ण मुद्रा को गलाने अथवा उसे विदेशों में निर्यात करने के सम्बन्ध में अनेकों अड़चनें थीं, तब वहाँ स्वर्णमान नहीं था ।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जब तक इस व्यवस्था के दोनों भाग संघटित न हों (और यही बात स्वर्णपाट पद्धति पर लागू होती है), तब तक स्वर्णमान को बिना शर्त कानून से अनुमोदन नहीं मिलता। उदाहरण के लिए स्वीडन में (जहाँ नोटों को स्वर्णमुद्रा में परिवर्तित कर दिया जाता है) बैंक आफ स्वीडन को यह अधिकार है कि स्वर्ण की अपरिमित राशि को खरीदना अस्वीकार कर दे, और यदि बैंक कुछ स्थितियों में इस अधिकार का प्रयोग करना आरम्भ कर दे तो स्वीडन की मुद्रा का मूल्य निर्धारित स्वर्ण के वजन के विधि-विहित मूल्य से अधिक हो जायगा, और वहाँ स्वर्णमान नहीं रहेगा।

§२. **द्विधातु और अपूर्ण पद्धतियाँ** (The Bimetallic and Limping Systems)—मान के अर्थ का जितना ज्ञान हम प्राप्त कर चुके हैं उसके आलोक में यहाँ हम उन मुद्रा-पद्धतियों पर सरसरी निगाह डालेंगे—और इससे अधिक हम कर ही क्या सकते हैं—जो पिछले दिनों में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रही हैं। १८०३ से १८७० तक फ्रांस में दो प्रकार की सम्पूर्ण पारिभाषिक मुद्राएँ रही हैं, एक चाँदी की और दूसरी स्वर्ण की, और इन दोनों धातुओं को मुद्रा-परिवर्तन के लिए टकसाल बिना रोक-टोक ग्रहण करती थीं। इस पद्धति को सामान्यत: दुहरी या द्वि-धातु मानपद्धति (Double or Bimetallic System) कहा जाता था। इसका उद्देश्य देश को एक या दूसरी धातु के अभाव के कारण मुद्रा की कमी से पहुँचने वाली क्षति से बचाना था और बहुत-से लोग इस बात पर बल देते थे कि यदि सारे संसार में इस पद्धति का प्रचलन हो जाय, तो मुद्रा का मूल्य अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्थिर रखा जा सकता है। इस तर्क पर हम विवेचन नहीं करेंगे। हमारा काम यहाँ केवल पद्धति की प्रकृति और उसके नाम से है। कार्य रूप में जो स्थिति रही, वह यह थी जिस धातु में जिस समय अधिक वृद्धि हुई वही मुद्रण के लिए प्रस्तुत की गयी और फलस्वरूप मुद्रा-पूर्ति को (जिसमें वह रिजर्व भी सम्मिलित है जो नोटों को बदलने

के लिए मुद्राधिकारी काम में लाते थे) उस धातु ने आच्छादित कर लिया। इस प्रकार लगभग पचास वर्ष तक फ्रेंच मुद्रा का मूल्य निर्धारित चाँदी के वजन के मूल्य के बराबर और शेष वर्षों में निर्धारित स्वर्ण के वजन के बराबर रखा गया। अतः हम देखते हैं कि 'द्वि-धातु मान' शब्द भ्रामक है, सारे समय (१८०३ से १८७० तक) फ्रांस में केवल एक ही द्वि-धातु पद्धति प्रचलित थी, पहले चाँदी और फिर स्वर्णमान। और यद्यपि जहाँ इस सारे समय फ्रांस में दो पारिभाषिक मुद्राएँ थीं, वहाँ एक काल-सीमा में फ्रांस में केवल एक ही प्रकार की मुद्रा प्रचलित थी, और मुद्राधिकारी इसी कार्य-व्यापार में दत्तचित्त रहते कि फ्रैंक का मूल्य उस धातु के निर्धारित वजन के मूल्य के बराबर बना रहे जिस धातु की वह मुद्रा बनी हो। तीसरे अध्याय में हमने मुद्रा का जो वर्गीकरण किया है वहाँ हम यह नया संशोधन प्रस्तुत कर सकते हैं : पारिभाषिक मुद्रा को दो कोटियों में रखा जा सकता है, एक तो **प्रामाणिक मुद्रा**, अर्थात् वह मुद्रा जिसमें केन्द्रीय संस्था **वस्तुतः** अन्तिम रूप से भुगतान करती है और दूसरे **अप्रामाणिक** (Non-Standard) **मुद्रा** अर्थात् वह मुद्रा जिसमें केन्द्रीय संस्था अन्तिम रूप से भुगतान कर सकती है, पर वस्तुतः **करती नहीं**। यह संशोधन भी कुछ संक्रमण कालों में अशुद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए १८५० के बाद फ्रांस की मुद्रा-पूर्ति में सोने का बोलबाला होने लगा, और फ्रैंक का मूल्य सोने के निर्धारित वजन के मूल्य के बराबर हो चला, किन्तु १८६० तक बैंक आफ फ्रांस अन्तिम भुगतान चाँदी में ही करता रहा। स्वर्ण या रजत मुद्रा में कौन उस समय प्रामाणिक मुद्रा थी, यह एक अच्छी पारिभाषिक समस्या है : किन्तु चूँकि ये स्थितियाँ संक्रमण काल की हैं, इस समस्या को हम जैसे चाहें वैसे सुलझा सकते हैं।

इसी प्रकार की विचारणाएँ १८७० से लेकर प्रथम युद्ध के आरम्भ तक फ्रांस में एवं तथाकथित लैटिन यूनियन (Latin Union) के देशों में (जिनके साथ फ्रांस ने भौतिक उद्देश्यों के निमित्त सरोकार

बना रखा था) प्रचलित मुद्रा-प्रणाली के सम्बन्ध में उपस्थित होती हैं। यद्यपि इन देशों ने अपरिमित मात्रा में चाँदी का मुद्रण बहिष्कृत कर दिया था, तथापि उनके पास चाँदी के सिक्कों की बहुत बड़ी संख्या थी जो एक समय सम्पूर्ण मुद्रा माने जाते थे किन्तु अब सांकेतिक मुद्रा ही, और इन देशों की केन्द्रीय संस्थाओं को अधिकार था कि वे अपनी सुविधा के अनुसार अन्तिम भुगतान स्वर्णमुद्रा के बजाय चाँदी की मुद्रा में करें। इस व्यवस्था को प्रायः अपूर्ण या "पंगू मान" कहा जाता था—बात यह थी कि इस मान के मानों दो पांव हों, एक चाँदी का और दूसरा सोने का, किन्तु चाँदी का पांव विकृत और पंगु था। अब हम देखते हैं कि यद्यपि इस व्यवस्था को पंगु-पद्धति का नाम देना न्यायोचित ठहराया जा सकता है, किन्तु यह कदापि भी मान नहीं था। जिस समय की हम चर्चा कर रहे उसके दौरान में तो बैंक आफ फ्रांस ने स्वर्णमान को ही प्रचलित रखा और यदा-कदा, थोड़े-बहुत समय तक, जब उसने सांकेतिक रजत मुद्रा में भुगतान किया तो वह इस प्रकार कि फ्रैंक का मूल्य स्वर्ण के निर्धारित वजन के विधि-विहित मूल्य से कम रहे—इसके इस कार्य-व्यापार के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि उसने कुछ काल के लिए एक स्वेच्छाचारी मान (Arbitrary Standard) स्थापित किया, उसी प्रकार से जैसे अन्य देशों ने युद्ध के दौरान में किया। अमेरिका में भी कुछ सीमा तक इस प्रकार की अप्रामाणिक सांकेतिक पारिभाषिक मुद्रा (चाँदी के डालर) के होने से स्वर्णमान के अटूट अस्तित्व को कोई धक्का नहीं पहुँचा है।

§३. **स्वेच्छाचारी मानों के अन्तर्गत विदेशी विनिमय** (Foreign Exchange under Arbitrary Standards)—सुरक्षित कोष या रिजर्व के मुद्रित और अमुद्रित सोने के बारे में इतना ही पर्याप्त है। अब बाहरी चैकरियों (Emigre Chequeries) के सम्बन्ध में विचार किया जाय। इसे समझने के लिए हमें एक ऐसे विषय को लेना पड़ेगा जिस पर अभी तक हमने बहुत कम कहा है। वह है

विभिन्न देशों की मुद्रा-प्रणालियों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा विदेशी विनिमयों के स्तर को निर्धारित करने वाली शक्तियों का विवेचन। दूसरे शब्दों में दो देशों—मान लो इंग्लैंड और यूटोपिया जिनके नागरिक परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध रखते हैं—की मुद्राओं का एक-दूसरे की दृष्टि में क्या मूल्य है? पहली बात तो यह है कि ऐसा संभव ही किस प्रकार होता है कि एक राष्ट्र की मुद्रा का दूसरे राष्ट्र के लिए कोई मूल्य हो ही—पौण्ड का यूटोप में अथवा यूटोप का पौण्ड में। इसका उत्तर स्पष्ट है। चूँकि दोनों देशों के बीच व्यापार सम्बन्ध है, कुछ ऐसे अंग्रेज भी होंगे जिनका यूटोपियन मुद्रा पर स्वत्व होगा और उसे वे ब्रिटिश मुद्रा में पाने के इच्छुक होंगे और कुछ ऐसे भी अंग्रेज होंगे जो ब्रिटिश मुद्रा के विनिमय में यूटोपियन मुद्रा लेने के लिए तैयार होंगे। प्रथम श्रेणी में वे लोग आयेंगे जिन्होंने यूटोपिया वालों को या तो कुछ वस्तुएँ भेजी और बेची हैं, या उन्हे कुछ सेवाएँ प्रदान की हैं, या कुछ पूँजी लगायी हुई है जिन पर उन्हें अभी ब्याज मिल रहा है। दूसरी श्रेणी में वे लोग आएँगे जिन्होंने यूटोपिया से कुछ वस्तुएँ मँगायी हैं जिनका भुगतान करना अभी शेष है, या जिन्होंने यूटोपिया वालों की किसी-न-किसी रूप में सेवा ग्रहण की है, या जिन्होंने यूटोपिया से पूँजी स्वीकार की थी जिसका ब्याज देने के लिए वे बाध्य हैं, या जो अपनी बचत यूटोपिया में लगाने के इच्छुक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे यूटोपियन भी होंगे जो उक्त कारणों से ब्रिटिश मुद्रा प्राप्त करना या देना चाहेंगे। इन सारी पेचीदगियों को हम सरलता पूर्वक दूर कर सकते हैं यदि एक क्षण के लिए हम यह अनुमान करें कि सारा कार्य-व्यापार (भले ही यूटोपिया वालों या अंग्रेजों के बीच) यूटोपियन मुद्रा को पाने का दावा करता है, और यह सारा व्यापार इंगलैंड में हो रहा है जहाँ यूटोपियन मुद्रा को पाने के दावे वस्तुतः ब्रिटिश मुद्रा के विनिमय में खरीदे और बेचे जा रहे हैं।

अब हम अपने प्रमुख प्रश्न को फिर उठा सकते हैं—पौण्ड और

यूटोपियन मुद्रा के मध्य विनिमय की दर कौन निर्धारित करता है ? सबसे सरल और शिक्षाप्रद तो वह स्थिति होगी जबकि इंगलैंड और यूटोपिया दोनों के स्वेच्छाजनक और स्वतंत्र मान हों जैसे कि युद्ध से कुछ समय पूर्व बहुत-से देशों में थे। किन्तु हम यह भी मानेंगे—जो वस्तुतः उन वर्षों में सत्य नहीं था—कि दोनों देशों की मुद्रागत स्थितियाँ अपेक्षाकृत स्थायी हैं ; इससे हमें मुद्रा-सम्बन्धी उलट-पलट के भीषण और पेचीदे परिणामों पर विचार नहीं करना पड़ेगा। और हम यह भी कल्पना करेंगे कि दोनों देशों की बीच एक क्षीण, गणित की-सी, विभाजक रेखा है, और दोनों आयात-निर्यात करों से मुक्त हैं। इन अवस्थाओं में साधारणतः यही कहा जायगा कि इन देशों में विनिमय-दर का स्तर उनके पारस्परिक मूल्य-स्तरों पर निर्भर करता है—उन वस्तुओं के मूल्य-स्तरों पर जिनका वे परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक क्वार्टर गेंहूँ की कीमत इंगलैंड में ५ पौण्ड है और यूटोपिया में २५ यूटोप, तो विनिमय की दर होगी ४ शिलिंग प्रति यूटोप, अथवा ५ यूटोप प्रति पौण्ड। साधारणतः इस विषय की मीमांसा यों की जाती है; मान लीजिए किसी समय एक यूटोप की कीमत चार शिलिंग न होकर तीन शिलिंग हो गयी, तो लोग २५ यूटोप के लिए ७५ शिलिंग खर्च करेंगे, इन यूटोप से वे एक क्वार्टर गेंहूँ यूटोपिया में खरीदेंगे और उसे ५ पौण्ड में इंगलैंड में बेच देंगे इस तरह उन्हें २५ शिलिंग का लाभ होगा। इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाय कि एक यूटोप की कीमत ५ शिलिंग हो जाती है तो लोग इंगलैंड में एक क्वार्टर गेंहूँ ५ पौण्ड में खरीद लेंगे और उसे २५ यूटोप के लिए यूटोपिया में बेच देंगे, इन यूटोपों के उन्हें १२५ शिलिंग मिलेंगे, और इस तरह उन्हें फिर २५ शिलिंग का लाभ होगा। और इन दोनों अवस्थाओं में से किसी एक में भी इस व्यापार में इतने अधिक लोग संलग्न होने लगेंगे कि पहली अवस्था में तो यूटोप की कीमत ऊँचे चढ़ने लगेगी, और दूसरी अवस्था में नीचे गिरने लगेगी।

परिणाम यह होगा कि यूटोप का मूल्य फिर ४ शिलिंग के स्तर पर आ जायगा। इस तरह हमारी धारणा सही बैठती है। यहाँ यह भी कहा जाता है कि विनिमय की दर किसी भी समय अपने सामान्य स्तर से ऊँची-नीची हो सकती है, यदि व्यापार सम्बन्धी वस्तुओं पर यातायात के खर्च या कर (यदि कोई कर है तो) में घट-बढ़ हो। उदाहरण के लिए यदि इंगलैंड और यूटोपिया के बीच एक क्वार्टर गेहूँ के यातायात पर २५ शिलिंग खर्च होते हैं तो यूटोप की कीमत ५ शिलिंग तक चढ़ सकती है, और यह सब गेहूँ के बिना आयात-निर्यात के और न तत्स्वरूप विनिमय की दर में कोई परिवर्तन हुए बिना हो सकता है।

किन्तु यदि पाठक को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय में कुछ जानकारी है तो शायद वह यह कह उठेगा कि हम घटनाओं के आकस्मिक तारतम्य में उलझे हुए हैं, उसी प्रकार जैसे एलिस बिजली और मेघ-घोष के सम्बन्ध में उलझ गयी थी। उसे मालूम है कि वास्तविक जीवन में घटनाएं दूसरे ही ढंग से घटती हैं; यदि यूटोपियन मुद्रा का मूल्य बढ़ता है तो शीघ्र ही तदनुरूप लिवरपूल में गेहूँ का भाव बढ़ जाता है। अतः उसका निष्कर्ष होगा कि व्यावसायिक वस्तुओं का मूल्य विनिमय-दर के द्वारा निर्धारित होता है, न कि इसके विपरीत कि व्यावसायिक वस्तुओं के मूल्य से विनिमय दर निर्धारित होती है। किसी भी व्यक्तिगत आदान-प्रदान के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है, और विशेषतः ऐसी स्थिति में जबकि व्यावसायिक वस्तु एक आयात-वस्तु है जिसे खरीदने के लिए इस देश के अतिरिक्त और भी बहुत-से देश तैयार हैं। हमारा अनुभवी व्यापारी शायद यह नहीं देख पा रहा है कि यदि मूल्य वृद्धियाँ लम्बे-चौड़े पैमाने पर होने लगें और इंगलैंड में मुद्रा-पूर्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन न आए, तो साधारणतः अंग्रेज उतनी मात्रा में माल नहीं खरीद सकेंगे जितनी मात्रा में वे पहले खरीदा करते थे, यूटोपिया से थोड़ी ही वस्तुएँ इंगलैंड में आयात होंगी और इंगलैंड से अपेक्षाकृत अधिक वस्तुएँ यूटोपिया को

निर्यात होंगी। अत. एक ओर तो यूटोपियन मुद्रा अधिक संख्या में अंग्रेजों को उपलब्ध होगी, और दूसरी ओर बहुत-से अंग्रेज उसे पाने के लिए पहले जितने उत्सुक नहीं होंगे, और परिणाम यह होगा कि यूटोपियन मुद्रा का मूल्य फिर गिरने लगेगा। अतः जबकि व्यावसायिक वस्तुओं का मूल्य स्तर यूटोपियन मुद्रा की दृष्टि से दिया गया हो तो यह तथ्य कि पौण्ड की दृष्टि से मूल्य-स्तर इंगलैंड की मुद्रा-स्थिति पर निर्भर करता है कुछ अर्थ रखता है—विनिमय-दर-निर्वाह के लिए यह एक आवश्यक तथ्य है और इस पेचीदी दुनिया में यह कहना कि एक वस्तु का निर्वाह दूसरी वस्तु के निर्वाह के लिए आवश्यक शर्त है यही अर्थ रखता है—कम-से-कम इतना तो हम उससे समझने की आशा कर सकते है—कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के लिए कारण-स्वरूप है।

अब तक जिस मान्यता पर हम बहस कर रहे थे वह यह थी कि दो देशों की विनिमय दर, जिनके मान स्वेच्छाजनक हैं, उनकी मुद्राओं की उस सापेक्ष क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है जो उनकी व्यवसाय सम्बन्धी वस्तुओं के सिलसिले में प्रकट होती है। यद्यपि इस मान्यता पर प्रायः संतोषपूर्ण ढंग से विवाद नहीं होता, और यद्यपि विनिमय की दरों के सम्बन्ध में वह पूर्ण सत्य नहीं प्रकट करती, तथापि अपनी सीमा में वह अर्थपूर्ण है और उपयोगी भी। जबकि एक देश के मुद्रा-मूल्य और मुद्रा-पूर्ति के सम्बन्ध में हम कुछ जानते हैं, तो यह मान्यता हमें इस बात का स्मरण कराती है कि दो देशों के विनिमय की दर भी वहाँ की मुद्रा-पूर्ति से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए यदि आगे चलकर हमें यह पता लगे कि यूटोपियन मुद्रा पहले से दुगनी हो गयी है, जबकि ब्रिटिश मुद्रा की पूर्ति में अथवा तत्सम्बन्धी अन्य बातों में कोई परिवर्तन नहीं आया है, तो हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं प्रकट करना चाहिए कि विनिमय की दर प्रति पौण्ड ५ यूटोप से १० यूटोप हो गयी है।

§४. स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय (Exchange Under Gold Standard)—अब हम यह अनुमान करें कि इंगलैंड और यूटोपिया दोनों स्वर्ण-चलन अथवा स्वर्णपाट-पद्धति के माध्यम से स्वर्ण मान को बनाए हुए है। यातायात की कठिनाइयों की यदि उपेक्षा की जाय तो यह तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि उन देशों की विनिमय-दर साधारणतः उनकी व्यवसाय सम्बन्धी वस्तुओं के रूप में उनकी मुद्राओं के सापेक्ष मूल्यों पर निर्भर करती है। किन्तु चूँकि स्वर्ण स्वयं उन वस्तुओं में से है जिनका अत्यन्त आसानी से व्यापार हो सकता है, हम इस बात को इस प्रकार समझा सकते हैं कि सामान्य विनिमय-दर स्वर्ण के रूप तथा भाव में, दो देशों की मुद्राओं के सापेक्ष मूल्यों पर निर्भर करती है, अर्थात् सोने के उन सापेक्ष वजनों पर जिन्हें उक्त देशों में कानूनन मुद्रा-मान का आधार स्वीकार किया गया है। इसी बात को और भी परिष्कृत करके यों कहा जा सकता है कि विनिमय की वास्तविक दर अपने इस सामान्य स्तर से उस सीमा के आगे-पीछे नहीं हो सकती जो एक देश से दूसरे देश में सोना भेजने के खर्च से अधिक होती हैं। चूँकि यदि यूटोपियन मुद्रा का मूल्य इस सीमा से आगे बढ़ता है, तो अंग्रेजों के लिए यही लाभप्रद होगा कि पौण्ड से सोना खरीदें, उसे यूटोपिया भेजें और वहाँ उससे यूटोपियन मुद्रा खरीदें, न कि विनिमय बाजार में यूटोप को, और इस प्रकार यूटोपियन मुद्रा की बढ़ी हुई माँग नीचे उतर जाएगी। यही बात मुद्रा-मूल्य की कमी पर लागू होती है। अतः स्वेच्छाजनक मुद्रा मानों के विपरीत स्वर्ण मानों के विषय में हम यह कह सकते है कि सामान्य विनिमय-दर अपरिवर्तनीय हैं और उसे सन्देहात्मक सूचक-अंकों की सहायता के बिना (जिनका उल्लेख दूसरे अध्याय में किया गया हैं) निश्चित रूप से आँका जा सकता है और यदि इस दर में कुछ सम्भावित परिवर्तन भी होने लगें तो पहले से ही उनका अनुमान लगाया जा सकता है और उन्हें निश्चित अंकों में व्यक्त किया जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो वस्तुतः स्वर्णमान की विनिमय-दर की सापेक्ष स्थिरता ही वह प्रधान कारण है जिसके चलते बहुत-से देशों ने या तो अपने यहाँ स्वर्णमान स्थापित किया है, या उसका पुनःसंस्कार किया है और विनिमय-दरों में परिवर्तनों को रोकने के मुख्य उद्देश्य से ही मुद्राधिकारी आजकल अपने स्वर्ण-कोषों पर निर्भर रहते हैं। इसी बात से अब स्पष्ट है कि बैंक आफ इंगलैंड क्यों अपने नोटों के बदले कम-से-कम परिमाण में १७०० पौन्डों का सोना देने के लिए बाध्य है। कम परिमाण तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में कोई विशेष महत्व नहीं रखता। ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली की एक ग्रंथि पर भी यह प्रकाश डालता है। जैसे बताया जा चुका है, इंगलैंड में सबसे प्रमुख मुद्रा है बैंक-मुद्रा और व्यावसायिक जनता निर्यात के लिए बैंक आफ इंगलैंड से जो सोना खरीदती है उसके लिए वह इस बैंक-मुद्रा का ही प्रयोग करती है। अतः इस बात की आशा की जा सकती है कि यदि स्वर्ण-कोषों को कानून द्वारा नियमित करना है तो स्वर्णकोष और उस प्रकार की मुद्रा की राशि के बीच जो सोना खरीदने के लिए सचमुच व्यवहार में लायी जाती है, सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। किन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, बात दूसरी है; बैंक आफ इंगलैंड का स्वर्ण-कोष प्रत्यक्षतः नोटों के लिए रखा जाता है : ये नोट स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तित नहीं होते और जनता द्वारा निर्यात के लिए उनके अमुद्रित स्वर्ण में बदले जाने की संभावना भी कम ही रहती है। इंगलैंड की यह प्रणाली उस समय की यादगार है जब बैंक आफ इंगलैंड के नोट मुद्रा के सबसे प्रमुख रूप थे और जब देश के अन्दर आन्तरिक व्यवहार के लिए जनता लम्बे-चौड़े परिमाण में उन्हें स्वर्ण-मोहरों में बदलवा सकती थी। अब ये स्थितियाँ नहीं रहीं और यह कहना व्यर्थ है कि यह प्रणाली उलझन से भरी हुई है और कुछ लोगों की धारणा है कि १९२८ में बैंक आफ इंगलैंड और ट्रेजरी के नोटों के एकीकरण के समय इस प्रणाली में परिवर्तन होना चाहिए था और जो यह परिवर्तन

नहीं हुआ वह खेद की बात है ।

§५. **स्वर्ण-विनिमय पद्धति** (The Gold Exchange System)—अब हम उन बाहरी चैंकरियों के विषय को लें जिनके सिलसिले में विदेशी विनिमय का प्रश्न उठा था। अनुमान करें कि इंगलैंड में तो स्वर्ण-चलन अथवा स्वर्णपाट पद्धति है और यूटोपिया में नहीं, किन्तु यह भी अनुमान करें कि यूटोपिया स्वर्ण-मान स्थापित करना चाहता है और एक ऐसे कृत्रिम साधन का प्रयोग करना चाहता है जिसके द्वारा वह अपने निश्चय को दृढ़ और अपने बौद्धिक कार्यभार को हल्का बना सके। शायद उसे यह सूझ सके कि ब्रिटिश मुद्रा स्वर्ण के स्थायी रूप में रखी जाती है—उसी प्रकार वह भी स्वर्णमान को स्थाई बनाने में सफल हो सकती है, यदि वह इंगलैंड के साथ अपनी विनिमय-दर को स्थिर रख सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि यूटोपिया के मुद्राधिकारी एक निश्चित दर पर ब्रिटिश मुद्रा के प्रति पावनों (claims) को यूटोपिया-वासियों को सदैव बेचने के लिए तैयार हों और साथ ही उनसे ब्रिटिश-मुद्रा के प्रति पावनों को खरीदने के लिए तैयार हों। किन्तु निस्सन्देह ऐसा तभी निश्चयात्मक रूप से हो सकता है जबकि यूटोपिया के मुद्राधिकारी ब्रिटिश मुद्रा के लिए पावनों का एक बड़ा भण्डार बनाए रखें, अतः यह स्वाभाविक है कि ब्रिटिश बैंकों के साथ यूटोपिया के रिजर्व नियम सम्बन्धी चैंकरी, और ब्रिटिश प्रतिभूतियाँ, जो इन चैंकों के बदले आसानी से बेची जा सकती हैं, इस सम्बन्ध में विशेष महत्व रखें—उसी प्रकार का महत्व जैसा इंगलैंड के रिजर्व-नियमों में वहाँ का मुद्रित अथवा अमुद्रित स्वर्ण रखता है।

इस पद्धति को स्वर्ण-विनिमय पद्धति कहते हैं। इसका आविष्कार कई यूरोपियन देशों ने युद्ध से पूर्व स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने यहाँ किया था, जैसे कि आस्ट्रिया ने, जो स्वर्ण के सम्बन्ध में मितव्ययिता बरतना चाहता था। भारत सरकार ने भी स्वतन्त्र रूप से इस पद्धति

को अपनाया था। भारत में इस पद्धति के विकास का इतिहास विशेष रोचक विषय है। ध्यान रखने की बात है कि यहाँ यह विकास मुख्यतः और शनैः शनैः हुआ। बात यह है कि साधारणतः भारत आयात की हुई वस्तुओं के कुल मूल्य से कहीं अधिक मूल्य की वस्तुओं का निर्यात करता था। परिणामस्वरूप अनेक निर्यात करने वाले व्यापारियों के पास ब्रिटिश मुद्रा होती थी और वे भारत में मुद्रा प्राप्त करना चाहते थे। दूसरी ओर सामान्य रूप से भारत सरकार के पास भारत में करों से प्राप्त मुद्रा होती थी और वह ब्रिटिश मुद्रा प्राप्त करने की इच्छा करती थी जिससे कि लंदन में वह भत्ते, व्याज आदि का भुगतान कर सके। इस प्रकार दोनों पक्ष साथ-साथ विनिमय बाजार में पहुँच गये—इसके पहले उन्होंने सोचा भी नहीं था कि इस बाजार का मुद्रा-पूर्ति के नियमन के लिए उपयोग किया जाय—इसके अतिरिक्त पौण्ड में रुपये का मूल्य गिरने के बजाय चढ़ने लगा, कारण, भारत से सरल निर्यात करने वालों के पास ब्रिटिश-मुद्रा का अम्बार जमा होता जा रहा था। अतः उस समय भी जबकि नियमन पूर्ण रूप से विकसित था, भारत सरकार के लिए सदन में अपने पावनों को जिन्हें काउंसिल बिल (Council Bills) कहते थे भारत के रुपयों के बदले में अपरिमित संख्या में प्रति रुपया १ शिलिंग ४ पेंस की दर पर, या उसके आस-पास बेचने की केवल इच्छा प्रकट करना ही पर्याप्त था। कभी-कभी जरूर भारत में दुर्भिक्ष के कारण अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी घटना के कारण व्यापार-सन्तुलन अथवा व्यापारिक शेष (Balance of Trade) दूसरी ओर झुक जाता था और तब पौंड में रुपयों के मूल्य को गिरने से बचाने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता था—वह लन्दन में पौंड के पावनों को, जिन्हें विपरीत काउंसिल बिल (Reverse Council Bills) कहते थे, भारत में रुपयों के बदले में कुछ संख्या में बेच देती थी। युद्ध के दिनों में और उसके कारण जो गड़बड़ फैली उसमें यह पद्धति बेकार हो गयी, किन्तु १९२४ के

बाद धीरे-धीरे उसे फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। यह तो १९२७ में ही सम्भव हो सका कि सरकार पहली बार कानून द्वारा किसी भी परिमाण में किसी भी समय एक स्थिर दर पर १ शिलिंग ६ पेंस प्रति रुपये से कुछ नीचे रुपयों को स्वर्ण-विनिमय में परिवर्तित करने के लिए बाध्य हुई। यही कारण है कि तीसरे अध्याय में हमने जो तालिका दी है उसमें युद्ध-पूर्व रुपये को परिभाषिका मुद्रा की कोटि में रखा गया है, न कि परिवर्तनीय मुद्रा की कोटि में।

स्वर्ण-विनिमय-पद्धति ऐसे बहुत-से देशों में प्रचलित है जो राजनीतिक दृष्टि से दूसरों के अधीन हैं, जैसे पश्चिमी अफ्रीका, फिलिस्तीन और फिलिपाइन्स। भारत में इस पद्धति के लोकप्रिय न होने का यह भी एक कारण हो सकता है। किंतु युद्ध के बाद बहुत-से ऐसे देशों ने (जैसे रूस, जर्मनी और इटली ने) इस पद्धति को उसके सारभूत रूप में स्वीकार कर लिया, जिनकी सर्व लोकतन्त्र सत्ता को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और जो स्वर्ण का एक विशाल कोष रखे बिना ही स्वर्ण-मान को अपने यहाँ पुनः स्थापित करना चाहते थे। यद्यपि स्वर्ण विनिमय के रिजर्व को स्वर्ण की ही तरह बचत या उधार से एकत्र करने की आवश्यकता बनी रहती है फिर भी स्वर्ण-विनिमय के रिजर्व के रूप में होते हुए भी थोड़ा-बहुत ब्याज कमा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें आसानी से और शीघ्रतापूर्वक अधिक लाभप्रद प्रतिभूतियों में विनियोग के लिए अलग किया जा सकता है और जब आवश्यकता प्रतीत हो तभी प्रतिभूतियों को बेचकर उन्हें फिर रिजर्व में लगाया जा सकता है। इसके विपरीत स्वर्ण को बाजार से हटाना या लगाना अपेक्षाकृत कष्टसाध्य और खर्चीला व्यवहार है। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-पद्धति निर्धन देशों के लिए सरल पद्धति है और साथ ही लाभप्रद भी, यद्यपि जिन देशों ने अपने आपको रिजर्व कोषों का संरक्षक बना रखा है उनके लिए यह कभी-कभी उलझन की बात हो सकती है। वास्तव में यह प्रणाली इतनी सुविधाजनक है कि फ्रांस जैसा देश भी

जहाँ पूर्णरूप से स्वर्ण-पाट-पद्धति कानून के द्वारा स्थापित है, स्वर्ण-मान को विदेशी विनिमय के द्वारा प्रचलित रख सकता है। दूसरी ओर सोने को सचमुच अपने पास बनाये रखने की मनोभावना इतनी दृढ़ है कि उन देशों में भी जहाँ स्वर्ण-विनिमय-पद्धति प्रचलित है स्वर्ण-संचय करने की प्रवृत्ति बनी रही है। उनकी यह भी आकांक्षा रही है कि वे अपने नोटों को वास्तविक स्वर्ण में परिवर्तित करने का अधिकार भी बनाये रखें। यह भी कहा जा सकता है कि परिवर्तन के सम्बन्ध में निश्चित नियम केवल कुछ स्थितियों में ही लागू किये गये हैं, दूसरी स्थितियों में तो, जहाँ मुद्राधिकारी विनिमय-व्यापार के द्वारा व्यावहारिक रूप में विनिमय-दर की स्थिरता बनाये रखते हैं कानून की दृष्टि से तो वे ही नियम प्रचलित हैं जो रिजर्व के रूप और आकार-प्रकार से सम्बन्ध रखते हैं। इन दो प्रकार के देशों के नाम की आवश्यकता नहीं है। कारण जब तक पाठक उन पर विचार करें वे असंगत हो सकते हैं, और यह वर्गीकरण व्यावहारिकता की दृष्टि से भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

§६. **मुद्रा का मूल्य और स्वर्ण का मूल्य** (The Value of Money and the Value of Gold)—अब हम अपने विषय के मूल सूत्र को फिर ले सकते हैं। जिस देश में स्वर्णमान प्रचलित होता है, वहाँ मुद्रामान को बनाये रखने के लिए कोई भी तरीका क्यों न काम में लाया जाय, मुद्रा की मात्रा इतनी होती है कि उसके मूल्य और एक निश्चित वजन की स्वर्ण राशि के मूल्य में समता रखी जाती है। अतः अब हम तनिक विश्वास के साथ एक कदम आगे रखकर यह कह सकते हैं कि ऐसे देश में मुद्रा का परिमाण स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य पर निर्भर करता है। युद्ध के पूर्व इस कथन में अत्यन्त सार्थक सत्य था, और हम लोगों के जीवन में फिर ऐसा समय आ सकता है जब यह उक्ति फिर सच्ची हो जाय। अतः इस उक्ति के विभिन्न पहलुओं पर विवेचन करना संगत होगा।

स्वर्ण का मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि दुनिया में विभिन्न उद्देश्यों के लिए उसकी कितनी माँग है, और उसकी कितनी मात्रा उपलब्ध है। स्वर्ण की माँग केवल इसीलिए नहीं है कि वह मुद्रा और रिजर्व के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु वह उद्योग-धन्धों और अलंकरण के लिए भी काम में आता है, पूर्व के देशों में इसका संचय भी किया जाता है। चूँकि स्वर्ण को विभिन्न वैकल्पिक प्रयोगों में लगाया और हटाया जा सकता है इसलिए स्वर्ण की मुद्रा-सम्बन्धी माँग तथा स्वर्ण की पूर्ति में उतार-चढ़ाव से स्वर्ण के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों की एक सीमा खड़ी हो जाती है। किन्तु किसी एक देश की दृष्टि से स्वर्ण का सबसे महत्त्वपूर्ण वैकल्पिक प्रयोग मुद्रा या अन्य देशों में रखा हुआ रिजर्व है। समय-समय पर यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाती है। कारण, इसका अर्थ होता है कि जिस देश में स्वर्णमान प्रचलित है, वह केवल अपने पड़ोसियों की शृङ्गारिक बातों या रुचियों में परिवर्तन पर ही निर्भर नहीं करता, किन्तु उनके बिलों के भुगतान करने के तरीकों पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए १८७० के दशक में जब जर्मनी ने अपने यहाँ स्वर्णमान स्थापित करना चाहा तो उससे इंगलैंड में मुद्रा के परिमाण की वृद्धि बहुत रुक गयी।

किन्तु राष्ट्रों को कबूतरखानों की तरह नहीं रखा जा सकता। यदि हम इस बात पर बल दें कि आज प्रत्येक देश में जहाँ स्वर्ण-मान प्रचलित है मुद्रा का परिमाण, अतः उसका मूल्य, स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य पर निर्भर करता है, तो हम फिर एलिस की तरह संकट में पड़ जाएँगे। कारण दुनिया में स्वर्ण की जो माँग है, वह एक देश-विशेष के स्वर्ण की माँग को भी अन्तर्निहित किए हुए है, और यदि वह देश अत्यन्त विशाल, धनवान और शक्तिशाली है तो उसे स्वर्ण के मूल्य को बाह्य शक्तियों द्वारा निर्धारित मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए, एक सीमा तक वह स्वयं उस पर प्रभाव डाल सकता है। ऐसे देश के लिए रास्ता खुला हुआ है कि वह कोई भी मुद्रामान क्यों न

बनाए रखे (भले ही वह एक स्वेच्छाचारी मुद्रा-मान हो) वह सोने के मूल्य को अपनी मुद्रा के मूल्य के अनुरूप रख सकता है—उसके लिए आवश्यक नहीं कि उसकी मुद्रा का मूल्य सोने के मूल्य के अनुरूप हो और इसके लिए उसे स्वर्ण-चलन अथवा स्वर्णपाट पद्धतियों के अतिक्रमण करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसका कारण हम पहले ही बता चुके हैं कि जहाँ यह पद्धति प्रचलित है, वहाँ वह अपने आप में स्वर्णमान को बनाए रखने के लिए कोई खराब न होने वाली अथवा स्वचालित मशीन नहीं है। छोटे-मोटे देशों में तो मुद्राधिकारी के लिए यह अब भी आवश्यक है कि मौद्रिक पद्धति के शेष दाव-पेचों के दुरुपयोग से बचते हुए मुद्रा की पूर्ति को सोने की स्थिति के अनुकूल रखा जाए, ऐसे देश में मुद्राधिकारी इन "दाँव-पेचों" का अधिकतम लाभ उठाते हुए, मुद्रा की पूर्ति को अपनी इच्छा के अनुकूल नचा सकते हैं।

जिस स्थिति का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं उसमें कई वर्षों तक अंशतः युद्ध-सम्बन्धी कारणों से और अंशतः अपनी आंतरिक शक्ति के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका रह चुका है। विश्व के मौद्रिक स्वर्ण का एक-तिहाई से अधिक भाग इसके पास केन्द्रित है, और उसकी मुद्रा-पद्धति में दो महत्त्वपूर्ण बातें शामिल हैं :

(१) स्वर्ण-कोष व रिजर्व के उस अनुपात को, जो फेडरल रिजर्व बैंक अपने नोटों और निक्षेपों के एवज में रखता है, काफी मात्रा में प्रयोग रूप में बदलने की शक्ति, (२) एक-दूसरे के बदले उन दो प्रकार की सामान्य मुद्राओं को रखने की शक्ति जिनमें एक के एवज में तो कानून शत-प्रतिशत स्वर्णकोष की माँग रखता है और दूसरे के एवज में केवल चालीस प्रतिशत। वस्तुतः उसकी मुद्रा-पद्धति का क्या लक्ष्य रहा है, और इस लक्ष्य के साधने में उसे कहाँ तक सफलता मिली है, यह एक कठिन विषय है जिस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ तो इतना समझना ही पर्याप्त है कि अमेरिका जान-बूझकर सोने को अपना सेवक ही मानता रहा है, न कि मालिक।

यही कारण है—और साथ ही यह भय भी कि कहीं रेड क्वीन हमारे शब्दों को भी न पकड़ ले—कि इस अध्याय के प्रथम भाग में हमने मुद्रा की परिभाषा इतना तौल कर दी है। यह कहना भ्रामक होगा कि अमेरिका में मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के एक निर्धारित वजन के मूल्य के बराबर रखा जाता है किंतु वहाँ भी यह सत्य है कि सोने का मूल्य और स्वर्ण के एक निर्धारित वजन का मूल्य दोनों एक-दूसरे के बराबर रखे जाते हैं। अतः इस असुविधाजनक विरोधाभास से हम मुक्त हो जाते हैं कि अमेरिका में स्वर्णमान नहीं है, तथापि इस विषय पर विवाद किया जा सकता है कि विश्व की मुद्रा-स्थितियों का एक अधिक यथार्थ चित्र अमेरिका की मुद्रा-पद्धति को स्वेच्छाचारी मानने से स्पष्ट होता है, जबकि शेष विश्व की मुद्रा-पद्धतियाँ कष्ट सहती हुई डालर पद्धति की ओर बढ़ी हैं।

§७. **स्वर्ण का मूल्य और उसका उत्पादन-व्यय** (The Value of Gold and its Cost of Production)—पिछले खण्ड में हमने ऐसी कोई भी बात नहीं की है जो हमारी इस मान्यता के बीच आवे कि स्वर्णमान के देश में मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के निर्धारित वजन के मूल्य के बराबर होता है, अथवा इस मान्यता के बीच कि स्वर्ण का मूल्य उसकी माँग पर और उसकी प्रस्तुत मात्रा पर निर्भर करता है। जो कुछ वहाँ कहा गया वह स्वर्ण की वर्तमान माँग में निहित एक विचित्र भविष्य की ओर निदर्शन था, अतः इस प्रश्न को करने से हमें कोई रोक नहीं सकता—यदि हम मूल्य के सामान्य सिद्धान्त से तनिक भी परिचित हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न हम करेंगे—अर्थात् क्या हम यह कह सकते हैं कि विश्व में स्वर्ण का परिमाण उसके उत्पादन-व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। लगभग पचास वर्ष पूर्व इस प्रकार की कोई भी उक्ति निश्चयात्मक रूप से नहीं कही जा सकती थी, क्योंकि उन दिनों सोने को कहीं पा लेना संयोग की देन था, और लागत को विशेष

ध्यान में रखकर उसका उत्पादन नहीं किया जाता था। पिछली शताब्दी के पाँचवें दशक में आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया में स्वर्ण की जो विशाल राशियाँ हाथ लगीं वह अधिकतर प्रारब्ध की बात थी, और जो लोग भाग्यवान थे उनके लिए सोने के उत्पादन का अर्थ था सतह की मिट्टी को हटाकर सोने को धो-पोंछकर बाजार में पहुँचा देना। किन्तु पिछले वर्षों में इस सम्बन्ध में बहुत अदल-बदल हो चुका है, धरती की ऊपर की सतहों में जो कुछ सोना था वह समाप्त हो चुका है, और जिन चल-चित्रों जैसे तरीकों से सोना उपलब्ध कर लिया जाता था, वे अब विवश हैं, असमर्थ हैं, स्वर्ण-खनन विशेषतः ट्रांसवाल में, अब रासायनिक और यांत्रिक विधियों से होता है, और इस कार्य-व्यापार में आय तथा व्यय पर उतनी ही सूक्ष्म दृष्टि रखी जाती है जितनी अन्य किसी व्यवसाय में। अतः स्वर्ण के मूल्य में यदि कोई भी बड़ा परिवर्तन होता है, तो स्वर्ण-उत्पादकों की गति-विधि पर शीघ्र उसका प्रभाव परिलक्षित होने लगता है। उन पर यह प्रभाव किस प्रकार पड़ता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह स्वर्ण मुद्रामान के अथवा अ-स्वर्ण मान के देश के निवासी हैं। पहली स्थिति में उनके उत्पादन की मौद्रिक लागत में परिवर्तन आता है, दूसरी स्थिति में उनकी मौद्रिक कीमत में जो उन्हें अपने उत्पादन पर मिलती है। दोनों ही स्थितियों में उनके वार्षिक स्वर्ण-उत्पादन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ जाता है, क्योंकि यदि सोने का मूल्य नीचे गिरता है, तो वे अपना उत्पादन बढ़ा देंगे उसी प्रकार जैसे अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध में उत्पादक करते हैं। अतः अन्य वस्तुओं के मूल्य की तरह सोने के मूल्य की भी यह प्रवृत्ति है कि वह सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal Cost of Production)—अर्थात् स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन के उस भाग का उत्पादन-व्यय जो प्रकृति के अंतराल से अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होता है—के बराबर होना चाहता है।

फिर भी, हमें इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सोने के मूल्य की प्रवृत्ति स्थिर बने रहने की है, क्योंकि सोने के उत्पादन की सीमान्त लागत अन्य वस्तुओं के उत्पादन की लागत की तरह बँधी नहीं होती, वह सोने के उत्पादित परिमाण के अनुसार परिवर्तनशील है। इस प्रकार संसार में सोने की माँग कम होने से यदि सोने का मूल्य बहुत अधिक नीचे गिर जाता है तो बहुत-सी वैसी खानें (अथवा खानों के अंश) जो उपजाऊ और लाभप्रद नहीं हैं बंद हो जावेंगी, और अपेक्षाकृत अधिक सरलता से प्राप्त सोने की जो नयी सीमान्त लागत होगी वह सोने के गिरे हुए मूल्य के समरस होगी। किन्तु उत्पादन की इस रोक-थाम का सोने के मूल्य के पुनः ऊँचे चढ़ने पर कोई विशेष प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं है। कारण, पहली बात तो यह है कि यह सारी वार्षिक उत्पत्ति विश्व की कुल पूर्ति का केवल २ प्रतिशत भाग है। फलस्वरूप सोने के वार्षिक उत्पादन में यदि बहुत बड़ी कमी भी हो तो भी सोने की कुल पूर्ति, घटने के बजाय, कुछ कम तेजी से बढ़ेगी ही। दूसरे, यदि तथाकथित 'ऊसर' या 'निम्न श्रेणियों' की खानों से उत्पादन का अनुपात अधिक नहीं है तो उत्पत्ति में थोड़ी-बहुत कमी उत्पादन की सीमान्त लागत को सोने के गिरे हुए मूल्य के समरस बना देगी। १९१५ और १९१९ के बीच वास्तव में सोने का मूल्य ५० प्रतिशत नीचे गिर गया था, किंतु सोने की वार्षिक उत्पत्ति में केवल १२ प्रतिशत ही कमी आयी थी और संसार की कुल स्वर्ण राशि में तो फिर भी यथार्थतः वृद्धि ही हुई थी। इसी प्रकार के तर्क से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सोने के मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि होने से संसार की कुल स्वर्णराशि में कोई बड़ी आनुपातिक वृद्धि होने की सम्भावना नहीं है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि स्वर्ण का प्रस्तुत परिमाण अन्ततः स्वर्ण के उत्पादन की लागत से सीमित है, किन्तु वह इस

पर किसी सीधे-सादे ढंग से निर्भर नहीं है । और हम यह भी कह सकते हैं कि सोने का मूल्य उत्पादन की सीमान्त लागत के समरस बना रहना चाहता है, किन्तु वह (यदि रेड क्वीन के आक्रोश का हमें भय हो तो) इससे निर्धारित नहीं होता । इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन तथ्यों का यह अर्थ नहीं होता कि सोने का मूल्य स्थिर बना रहता है । इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्वर्ण-मान वाले देश में मुद्रा का परिमाण, यदि और किसी वस्तु से नहीं तो सोने के उत्पादन की लागत से अंततः सीमित होता है, और किसी भी अवस्था में उसका मूल्य एक निर्धारित वजन के सोने के समरस होने का प्रयत्न करता है।

मुद्रा और बचत

(Money and Saving)

"और उसका उपदेश यह है : 'उसमें मेरा भाग जितना बढ़ता जायगा, तुम्हारा भाग उतना ही कम होता जायगा।'"

—एलिस'स एडवेञ्चर्स इन वुडलैंड

§१. बैंक ऋणों की प्रारम्भिक धारणा (A Preliminary View of Bank Loans)—पिछले तीन अध्यायों में हमने मोटे तौर पर उन सबल शक्तियों का विवेचन किया है जो किसी देश में मुद्रा का वह मूल्य निर्धारित करने में योग देती हैं जो वहाँ प्रचलित है, किंतु मौद्रिक नीति के अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर समुचित रूप से विचार करने से पूर्व हमें अभी कुछ अन्य कार्य सम्पन्न कर लेने हैं। उनमें से पहला कार्य इस बात को समझना है कि बैंक-मुद्रा का परिमाण बैंकों की ऋण-प्रक्रियाओं (Loan Operations) पर निर्भर होता है, इसके साथ-साथ हमें यह भी देखना है कि हम कहाँ तक उन शंकाओं को दूर कर सकते हैं जो बहुत-से लोगों (जिनमें कुछ प्रसिद्ध बैंकर भी सम्मिलित हैं) के मस्तिष्क में, बैंकों के पूरे कार्य-व्यापार के सम्बन्ध में ही, घर किये बैठी हैं।

हम एक साधारण सौदे पर दृष्टिपात करके यह विवेचना आरम्भ करेंगे। सेवों की खेती करने वाला कोई किसान, जिसे यह आशा है कि उसकी फसल ६ महीने में तैयार हो जायगी, बैंक से एक हजार पौंड का ऋण माँगता है। बैंक अपनी किताबों में किसान का खाता

खोलकर उसे चैक काटने अथवा अपनी आवश्यकतानुसार एक हजार पौंड तक सामान्य मुद्रा निकालने का अधिकार दे देता है। वह किसान इसी सीमा के अन्दर मजदूरों की मजदूरी चुकाता है, आवश्यक सामान खरीदता है और अपना निजी खर्च भी करता है। ६ महीने पूरे होने पर वह फल एकत्रित करके बेच देता है और इस प्रकार बैंक से लिया गया ऋण चुका देता है। बैंक उस ऋण पर कुछ सूद भी लेता है।

एक अनुभवी व्यापारी को इस समस्त लेन-देन में कोई भी विचित्र बात दिखाई नहीं देती, परन्तु इस प्रकार के सौदों का क्रियात्मक ज्ञान न रखने वाले पाठक को यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि उसके लिए यह तनिक विस्मयजनक ही है। देखना है कि हुआ क्या ? ऊपरी तौर से बैंक की जादू की छड़ी ने किसान और उसके साथियों को समाज के अन्य सदस्यों के खर्च पर ६ महीने तक जीवन बिताने में समर्थ कर दिया। दूसरे शब्दों में, बैंक ने समाज की, भोजन, वस्त्र, सिनेमा आदि की वास्तविक आय पर किसान और उसके साथियों का अधिकार करा दिया। किसान को दी जाने वाली इस सेवा के बदले बैंक ने जो कुछ लिया उसे ब्याज अथवा 'सूद' कहकर पुकारा गया। यह सब देखकर एक बार तो हम अकस्मात् आश्चर्यचकित होकर रह जाते हैं।

यह तो स्वीकार करना पड़ता है कि सर्वप्रथम हमारे मन पर होने वाली इन घटनाओं की प्रतिक्रिया में विस्मय की प्रधानता होती है—हम इन सब बातों को भुलावे में डालने वाली हाथ की सफाई अथवा जादू समझते हैं, परन्तु क्या यह केवल हाथ की सफाई, जादू, छल अथवा भ्रम ही है ? हमें अपने मन पर पड़ने वाले इस प्रभाव की परख करनी चाहिए। अभी तो यदि हम अपनी इस प्रतिक्रिया के औचित्य के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालने के लिए पूरे घटना-चक्र का कोई सामान्य कारण खोज निकालें तो इतना ही पर्याप्त होगा।

सबसे पहले हम अपनी समस्या की शर्तों की परिभाषा करेंगे।

इसके लिए हम आरम्भ में यह कल्पना कर लें कि वह देश जिसके साथ हमारा इस समय सम्बन्ध है आबादी और टेकनिकल योग्यता के बारे में स्थिर है अर्थात् इस देश की जनसंख्या और टेकनिकल योग्यता ज्यों-की-त्यों रहती है। वस्तु-स्थिति को और भी सुगम बनाने के लिए हम यह भी मान लें कि उस देश में केवल एक ही बैंक है। उसी बैंक की मुद्रा वहाँ की एक मात्र मुद्रा है और सब लोग छोटे-से-छोटा भुगतान भी चैक द्वारा ही करना पसन्द करते हैं। हाँ, जहाँ तक जमा और रिजर्व के अनुपात का सम्बन्ध है, यह बैंक भी, दूसरे वास्तविक बैंकों की भाँति, कुछ नियमों अथवा प्रथाओं में जकड़ा हुआ है। उपर्युक्त मान्यताओं से हमें वास्तविक स्थिति को समझने में बहुत सुविधा होगी। जहाँ इनके कारण कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न होगी, वहाँ उस पर विचार कर लिया जाएगा।

यह तो निश्चित ही है कि हमारा किसान कुछ वस्तुएँ स्वयं खरीदेगा और कुछ अपने कर्मचारियों द्वारा। ये वस्तुएँ सब प्रकार के उत्पादकों तथा व्यापारियों से खरीदी जाएंगी। हम इन समस्त विक्रेताओं को एक ही शीर्षक—जनसाधारण—के अन्तर्गत रख सकते हैं। अस्तु, जनसाधारण वस्तुएँ बेचेंगे और उनके बदले मुद्रा प्राप्त करेंगे। इस प्रकार मिलने वाली मुद्रा को वे बैंक में जमा करा देंगे। फलतः बैंक में इन लोगों के हिसाब-खातों या चैकरियों (Chequries) का एक जाल-सा बिछ जायगा। एक ओर जब किसान की सब खरीदारी पूरी हो जाने पर उसका हिसाब-खाता समाप्त अथवा बन्द हुआ तो दूसरी ओर उतनी ही रकम (एक हजार पौंड) के जनसाधारण के नये हिसाब-खाते खुल गये। जनसाधारण के ये हिसाब-खाते यद्यपि किसान के हिसाब-खाते के अस्तित्व के ही परिणाम हैं, तथापि ये स्वरूप अथवा प्रकृति में किसान के हिसाब-खाते से सर्वथा भिन्न हैं। कारण इन नये हिसाब-खातों की सृष्टि ऋण द्वारा नहीं बल्कि सेवाओं के प्रतिफल स्वरूप प्राप्त धन से हुई है। यह स्पष्ट रूप से सम्भव है कि नये हिसाब-

खाते जनसाधारण की एक नयी स्वाभाविक बचत की क्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन नवीन हिसाब-खातों का निर्माण करते समय जनसाधारण ने विभिन्न वस्तुओं अथवा सेवाओं का उपभोग करने के कानूनी अधिकार का स्वयं प्रयोग न करके, बैंक के माध्यम द्वारा किसान और उसके साथियों को सौंप दिया। इस व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस बचत-कार्य के फलस्वरूप ६ महीने के अन्त तक एक नये धन की सृष्टि हो गयी—वृक्ष पके हुए फलों से लद गये।

§२. **बैंक ऋणों की अविच्छिन्नता**(The Continuity of Bank Loans)—अब इस कहानी को कुछ और आगे बढ़ाया जाय। किसान को अपनी फसल के बदले में, एक हजार पौंड का एक चैक प्राप्त होता है, जिसे वह अपने ऋण के भुगतान में बैंक को दे देता है। इस क्रिया से किसान की फसल खरीदने वाले व्यक्ति के हिसाब-खाते में एक हजार पौंड की कमी हो जाती है और उसी सीमा तक बैंक के कुल निक्षेप भी घट जाते हैं। यह तो हम जानते है कि बैंक अपनें निक्षेपों और सुरक्षित कोषों या रिजर्व के बीच एक निश्चित अनुपात बनाए रखने का प्रयत्न करता है और अभी तक जो कुछ हुआ है उससे न तो इस अनुपात के सम्बन्ध में बैंक के विचार में कोई परिवर्तन आया है और न ही इससे सुरक्षित कोषों के वास्तविक परिमाण में ही उतार-चढ़ाव हुआ है। पाठक को यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि यदि हम सामान्य मुद्रा के अस्तित्व को स्वीकार कर लें तो भी यह बात सत्य सिद्ध होगी। अस्तु, यदि बैंक को ऐसा करने में कोई लाभ दिखाई देता है तो वह एक हजार पौंड का और ऋण देकर अपने निक्षेपों को पुरानी सीमा तक बढ़ा लेगा और बैंक को इसमें लाभ तो दिखाई देगा ही क्योंकि उस ऋण पर उसे सूद जो मिलेगा। अतः वह एक हजार पौंड का नया ऋण देने के लिए अपने को तैयार रखेगा।

पाठक यह पूछना चाहेंगे कि किसान ने अपनी फसल किसको बेची

है ? वास्तविकता के अधिकतम निकट रहने के लिए हम यह मान लें कि उसने वह पूरी फसल एक व्यापारी के हाथ बेची है और यह भी कि वह व्यापारी एक फुटकर व्यापारी है जो धीरे-धीरे अगले ६ महीनों में पूरे सेब ग्राहकों के हाथ बेच देगा। अब प्रश्न यह है कि यह व्यापारी फसल की कीमत कैसे चुकाता है। अनुभव हमें बताता है कि वह व्यक्ति बैंक से ऋण लेगा और चूँकि वह व्यापारी उस समय से कुछ मिनट पहले ऋण माँगता है जबकि बैंक वास्तव में ऋण देने के लिए तैयार होता है इसलिए यह कल्पना करना कठिन नहीं कि समय का यह अत्यन्त साधारण अन्तर किसी-न-किसी प्रकार दूर हो जाता है और वह वास्तव में वही एक हजार पौंड उधार लेता है जो किसान अपने ऋण के भुगतान में बैंक को चुकाता है। शेष लोगों पर इस लेन-देन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उन्होंने जो निक्षेप बना रखे हैं उन पर उनका अधिकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इस तथ्य से हम इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उस दूसरे ऋण की व्यवस्था के लिए जनता द्वारा किसी नवीन बचत की आवश्यकता नहीं रहती।

इस बात के उत्तर में पाठक कहेंगे कि यह तो स्वाभाविक ही है क्योंकि दूकान का किराया और व्यापारी के निजी खर्चों आदि की उपेक्षा करके हमने यह कल्पना कर ली थी कि उसकी पूरी रकम केवल फसल खरीदने पर ही खर्च हो जाती है। यद्यपि व्यापारी के सम्बन्ध में इस तरह की कल्पना करके वस्तु-स्थिति को सरल बनाना उचित ठहराया जा सकता है फिर भी इस बात से इस धारणा पर रोक लग जाती है कि दूसरे ऋण की अवधि में जनता को, व्यापारी के लाभ के लिए, स्वयं कोई अभाव सहना पड़े। अतः हम इस कहानी को कुछ और आगे बढ़ाते हैं। मान लीजिए कि व्यापारी प्रति सप्ताह लगभग चालीस पौंड के सेब बेचता है और इस प्रकार वह थोड़ा-थोड़ा करके बैंक का ऋण चुकाने में समर्थ हो जाता है। उधर बैंक इस तरह वापस मिलने वाली रकम को दर्जियों, मोचियों अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति को नये ऋणों

के रूप में दे सकता है। हाँ, बैंक को इस बात का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि उसके दिये गये ऋणों का जोड़ एक हजार पौंड के स्तर पर टिका रहे। सामान्य रूप से लोगों को इस समस्त घटना-स्थिति के परिणामस्वरूप किसी नवीन अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि दर्जियों, मोचियों आदि के साथ (जिन्हें बैंक ने ऋण दिया है) वे जिस वास्तविक आय में भागीदार होंगे वह स्वयं व्यापारी की दुकान से बाहर निकलते हुए सेबों के प्रवाह से वढ़ चुकी होगी।

इस प्रकार हमारा यह निष्कर्ष बिलकुल ठीक बैठता है कि यह अनिवार्य नहीं कि बैंक जितनी बार ऋण दे उतनी ही बार लोग या तो नयी बचत करें अथवा ऐसा न करने पर, वे धोखे के शिकार हों, हमें अपने प्रथम ऋण की कहानी को भी फिर से परख करनी होगी। यहाँ एक बात समझनी आवश्यक है। उस ऋण को इसलिए प्रथम नहीं माना गया था कि इस प्रकार हम समय के आदि तक जा पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। वह ऋण तो इसी अर्थ में प्रथम है कि हमने आर्थिक जीवन के अनवरत चक्र को उसी बिन्दु विशेष पर भंग करना पसन्द किया था, साथ ही हमें इस बात की सम्भावना भी स्वीकार करनी होगी कि कदाचित् वह ऋण भी किसी पिछले ऋण का, एक ऐसे ऋण का स्थानापन्न हो जिसका उपयोग जनसाधारण को वास्तविक आय प्रवाह प्रदान करने के लिए किया गया था और इसीलिए, जैसी कि हमने कल्पना की थी, उस समय जनसाधारण को अपनी ओर से कोई नई बचत नहीं करनी पड़ी थी।

आरम्भ में तो ऋण की अविच्छिन्नता की इस धारणा को हृदयंगम करना कदाचित् कठिन नहीं है, बात यह है कि कुछ उत्पादन कार्य, जैसे फसल काटना, सामयिक अथवा अस्थायी होते हैं और ऐसे कार्य करने वाले व्यक्ति स्वाभाविक रूप से काम पूरा होते ही शीघ्रातिशीघ्र बैंक का ऋण उतार देने का अवसर ढूँढ़ते हैं; परन्तु समग्र रूप से देखने पर अर्थात् उत्पादन, क्रय-विक्रय, माल इकट्ठा करना, यहाँ तक कि

उपभोक्ता के उपभोग के लिए भोजन-सामग्री तैयार करने के काम को भी एक साथ रखकर देखने पर हमारी समझ में यह बात भली प्रकार आ जाती है कि उत्पादन-कार्य भी उपभोक्ता की आवश्यकताओं के समान ही अनवरत तथा लगातार होते हैं। मेजों तथा बर्तनों जैसी वस्तुओं की तैयारी में तो यह बात और भी सत्य दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओं के लिए आवश्यक कच्चा माल प्रकृति के द्वारा एक ऐसे ढंग से प्राप्त किया जाता है जो विशेषतः ऋतु संबंधी परिवर्तनों से मुक्त है। यद्यपि आम तौर से कोई एक व्यक्तिगत फर्म लगातार अपने बैंक की ऋणी नहीं रहती। इंगलैंड में इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि समष्टि रूप से व्यापार और उद्योग-धंधे बैंकों के ऋणी बने रहते हैं। एक स्थिर समाज में ऋण लेने वाले व्यक्तियों के बराबर बदलते रहने पर भी एक स्थिर रकम के इन अनवरत ऋणों के अस्तित्व के लिए इतना ही आवश्यक है कि निक्षेपकों या बैंक में जमा कराने वाले व्यक्तियों ने सुदूरस्थित और अँधियारे अतीत में एक नई बचत की हो। ऐसी दशा में यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक ऋण किसी चालाक जादूगर का करिश्मा नहीं है (जैसा कि हमने आरम्भ में समझा था)। बैंक ऋण तो वास्तव में ऐसे विश्वसनीय परिचारक या कारिन्दे की महत्त्वपूर्ण सेवा है जो अपनी अधिकतम योग्यता के अनुसार भूतकाल में संचित की जाने वाली धन राशि की उचित व्यवस्था करता है।

§३. **अनिवार्य बचत की व्यवस्था** (The Imposition of Forced Savings)—जहाँ तक बैंक पुराने ऋणों की वसूली पर नये ऋण देता है वहाँ तक तो सब बात ठीक-ठाक जान पड़ती है, परन्तु अब हम यह अनुमान करें कि हमारा नया ऋण वास्तव में इस दृष्टि से प्रथम था कि उसके कारण बैंक के बकाया ऋणों में विशुद्ध वृद्धि हुई। स्पष्टतः यह कोई असम्भव कल्पना नहीं है क्योंकि समाज में ऐसे मनुष्यों की कभी कमी न होगी जो अपनी योग्यता और सौभाग्य

पर अपरिमित भरोसा करने के कारण बैंक पर अधिकतम ऋण देने के लिए लगातार दबाव डालते रहें और दूसरी ओर बैंक ऋणों से होने वाले लाभ के कारण अधिक-से-अधिक ऋण देना चाहेगा। अब यदि यह मान लिया जाए कि किसी-न-किसी प्रकार बक की पहुँच अपने रक्षित कोषों या रिजर्व तक हो जाती है (यहाँ हमारे लिए यह जानना आवश्यक नहीं कि यह पहुँच कैसे होती है) तो यह निष्कर्ष निकालने में कोई कठिनाई नहीं होती कि बैंक अपने सुरक्षित कोष में होने वाली वृद्धि की रकम से कई गुना अधिक ऋण बढ़ा देगा। अब हम यह कल्पना करते हैं कि यह देश केवल आबादी और टैकनिकल योग्यता की दृष्टि से ही स्थिर नहीं है बल्कि यहाँ के वासियों की बचत सम्बन्धी धारणाओं में भी कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसी दशा में तो हमारी प्रारम्भिक शंकाएँ पूरी तरह उचित ठहरेंगी। पेड़ों पर फल पकने की अवधि में किसान और उसके साथियों के निर्वाह के लिए जो बचत की जाती है वह स्वेच्छापूर्वक न होकर विवशतापूर्वक ही होगी और मुद्रा-मूल्य में गिरावट ही वह अस्त्र है जिसके द्वारा यह अनिवार्य बचत लोगों पर थोपी जाती है। किसान और उसके साथियों के पास की नई मुद्रा मंडियों में आकर उस मुद्रा के साथ प्रतिस्पर्धा करेगी जो पहले से ही जन साधारण के पास है। दुकानदार स्टाक से माल निकालकर कुछ समय के लिए भले ही बढ़ी हुई माँग पूरी करले परन्तु शीघ्र ही वे अपने माल के दाम बढ़ा देंगे, ताकि वे वस्तुएँ एक परिमित मात्रा में ही खरीदारों तक पहुँच सकें। इस प्रकार कीमत बढ़ जाने पर जन साधारण को विवश होकर किसान और उसके साथियों को भा वास्तविक आय में भागीदार बनाना पड़ा। यदि वस्तुओं की कीमतें न बढ़तीं तो पूरी वास्तविक आय जन साधारण को ही प्राप्त होती।

यह तो सत्य है कि नई मुद्रा धीरे-धीरे जन साधारण के ही अधिकार में हो जाती है और ऋण से प्राप्त होने वाली सारी रकम खर्च होने तक तो वह पूरी तरह उनके हाथों में पहुँच जाएगी, परन्त

विचाराधीन परिस्थितियों में हिसाब-खातों (Chequeries) का यह निर्माण जन साधारण की ओर से स्वेच्छापूर्वक की गई किसी वास्तविक अथवा नवीन बचत का प्रतिनिधित्व नहीं करता। यह तो अधिक से अधिक उस प्रयत्न का प्रतिनिधि है जो जन साधारण द्वारा मुद्रा इकाई के मूल्य गिरने के कारण अपनी अधीनस्थ मुद्रा के कुल मूल्य में होने वाली स्थायी कमी को रोकने के लिए किया जाता है। अतः उनकी यह बचत विवशतावश ही होती है, और, सामान्य बचत के विपरीत, इस बचत से उनके अधीनस्थ धन के मूल्य में कोई ऐसी नवीन वृद्धि नहीं होती जिसका उपभोग वे भविष्य में किसी ऐसे अवसर पर कर सकें जब वे अधिक खर्च करना चाहते हों।

प्रस्तुत विषय को भली भाँति स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि बचत की अवधि के अन्त में (जब कि सब बातें पुनः स्थापित हो गई हैं) होने वाली स्थिति का विवेचन करें। मान लो कि बैंक ऋणों का परिमाण स्थायी रूप से १० प्रतिशत बढ़ गया है और जन साधारण के पास मुद्रा-परिमाण में भी उतनी ही वृद्धि हो गई है किंतु चूँकि कीमतें १० प्रतिशत से बढ़ जाती हैं इसलिए लोगों के पास की मुद्रा-पूर्ति का कुल वास्तविक मूल्य पहले से अधिक न होगा। अपना स्थिति-विवरण (Balance Sheet) दिखाकर बैंकर घमंड के साथ यह कहेंगे कि उनके विवरण संतुलित हैं। प्रत्येक ऋण या अन्य लाभप्रद लेनदारो (Assets) जमा करानेवाले के प्रति देनदारी (Liabilities) के बराबर है। इस प्रकार वे तर्क करेंगे कि उनसे तो जनता को कोई नुकसान पहुँच ही नहीं सकता, क्योंकि स्पष्टतः वे उतना ही तो ऋण दे सकते हैं जितना कि जनता उन्हें सौंपती है। हम में से जिन लोगों को १९१४ से १९१९ तक के वर्षों का स्मरण है वे तो कदाचित् इस सम्बन्ध में सन्देह ही करते आये हैं। यदि हमने पिछले पृष्ठों को भली प्रकार से समझ लिया है तो आगे चलकर जब हम एक उल्लेखनीय वार्षिक भाषण में उपर्युक्त कथन को फिर

सुनेंगे तो हम यह सिद्ध कर सकेंगे कि वह असत्य है और हमारे मन में इस शंका का भी उदय होगा कि क्या एक बैंक-व्यवस्था, जो सुरक्षित कोष या रिजर्व के सम्बन्ध में अटूट नियमों से जकड़ी हुई है, प्रत्येक परिस्थिति में लोक-हितकारिणी सिद्ध हो सकती है ?

इस दिशा में आगे बढ़ने से पहले पाठकों को एक चेतावनी देना उचित जान पड़ता है। हो सकता है कि इस प्रकरण के तर्कों को एक बहुमुखी बैंक-प्रणाली पर लागू करने के लिए आवश्यक संशोधन करने में उन्हें कुछ कठिनाई का सामना करना पड़े। प्रत्येक बैंकर यह जानता है कि इस प्रणाली के आधीन १००० पौंड का रक्षित कोष प्राप्त करके वह उसी समय उस रकम से अपने ऋणों का आठ या नौगुना विस्तार नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि बैंक को अपने उन नये लेन-दारों के लिए भी तो कुछ बचाकर रखना पड़ता है जो अपने अधिकांश चैक उन लोगों के नाम काटते हैं जिनका खाता दूसरे बैंकों में होता है। इस तरह बैंक के नये रक्षित कोष का एक भाग (इंगलैंड में, बैंक आफ इंगलैंड के नाम काटे गये चैकों के रूप में) दूसरे बैंकों को चला जाता है। दूसरे बैंक जितने कम होंगे, बैंक के नये ऋण उतने ही अधिक होंगे। परन्तु हो सकता है कि शुरू-शुरू में वे नये रक्षित कोष से बहुत अधिक न हों।[1] जैसे-जैसे यह नया रक्षित कोष दूसरे बैंकों में बँटता जाएगा, वैसे-ही-वैसे उनमें से प्रत्येक अपने ऋणों को कुछ-न-कुछ बढ़ाता जायगा और इस प्रकार भूल सुधार का यह क्रम उस समय तक जारी रहेगा जब तक कि एक बार फिर प्रत्येक बैंक के निक्षेपों और उसके रक्षित कोषों के बीच एक उचित अनुपात कायम न हो लेगा। यदि एक साथ ही सब बैंकों के रक्षित कोष में वृद्धि कर सकने वाली कोई सामान्य शक्ति क्रियाशील होगी तो रक्षित कोषों और ऋणों के बीच ताल-मेल

---

१. देखिए, बैंक क्रेडिट, लेखक सी० ए० फिलिप्स, अध्याय ३ और इकनामिका (जून १९२७) में प्रकाशित 'दि जेनेसिस आफ बैंक डिपाजिट्स', लेखक डब्लू० एफ० क्रिक।

कायम करने के तरीके की गति बहुत तीव्र होगी क्योंकि ऐसी दशा में प्रत्येक बैंक को आरम्भ से ही दूसरे बैंकों से लगभग उतना ही मिलता रहेगा जितना कि उसे उन्हें देना पड़ता है। अतः मोटे तौर पर रक्षित कोषों की वृद्धि से होने वाले परिणाम प्रकट करने के लिए हमारा यह तरीका उचित ही ठहरता है। हाँ, इस बात का कुछ मनोवैज्ञानिक महत्व अवश्य है क्योंकि इस प्रकार कदाचित् उन अनेक बैंकरों के आचरण की व्याख्या करने में सहायता प्राप्त होती है जो यह स्वीकार करने में संकोच करते हैं कि उनकी ऋण-नीति मुद्रा-मूल्य पर कितना निर्णायक प्रभाव डालती है।

§४. **स्वेच्छापूर्वक की गई बचत का रूपांतर** (The Conversion of Spontaneous Saving)—क्या उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि किसी धर्मपरायण बैंक को कभी भी अपने ऋणों के परिमाण में कुछ अतिरिक्त विशुद्ध वृद्धि नहीं करनी चाहिए ? नहीं, यह बात नहीं है। इसके विपरीत, कभी तो ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जबकि बैंक ऐसा न करके अपने उस कर्त्तव्य से च्युत होगा जो उसे जनता की वास्तविक बचत को उद्योग और व्यापार के हाथों में सौंपने वाले मध्यस्थ के रूप में सौंपा गया है।

मान लीजिए कि किसी देश में (जो जनसंख्या और टैकनिकल योग्यता की दृष्टि से स्थिर है) जनता, धन बचाने की आकस्मिक भावना अथवा अधिक लाभदायक कामों के प्रति अचानक अविश्वास उत्पन्न हो जाने के कारण बैंक के माध्यम द्वारा अपनी बचत के परिमाण में बढ़ोत्तरी करना चाहती है। यह इच्छा किस प्रकार प्रकट होगी और इसका उपयोग व्यापार और उद्योग-धंधोंके हित के लिए किस प्रकार किया जा सकता है, इन प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन में तो लोग वही करेंगे जिसे हमने, स्पष्टीकरण के लिए अपनाई गई अपनी विधि के अनुसार, रद्द कर दिया है अर्थात् लोग सामान्य मुद्रा बैंकों में ले जायँगे और बैंक उसे व्यापारियों को

उधार दे देंगे। प्रारम्भिक ढंग की बैंक प्रणाली के अन्तर्गत यह कथन ठीक हो सकता है किन्तु इस प्रकार आज के किसी ऐंग्लो-सैक्सन देश में होने वाली वास्तविकता तो अंशमात्र भी अभिव्यक्त नहीं होती। ऐसे देश में तो दुकानदारों, रेलवे के टिकट बाबुओं और इसी तरह के अन्य थोड़ी नगदी जमा कराने वाले कुछ साधारण मनुष्यों को छोड़कर और कोई भी व्यक्ति बैंक-प्रणाली में कोई ऐसी वस्तु प्रविष्ट नहीं कर सकता जो वहाँ पहले से ही मौजूद न हो। इस प्रकार हमारा वह सुविधाजनक स्पष्टीकरण वास्तविकता को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँचाता। यदि बैंक में हिसाब रखने वाला कोई व्यक्ति कुछ नये कपड़े खरीदनें अथवा घर का कोई और सामान मोल लेनें के लिए बैंक के नाम चैक नहीं काटता तो बैंक के कुल निक्षेप (यहाँ हमें अपनी दूसरी मान्यता याद रखनी है कि उस देश में एक ही बैंक है) में एक पाई की भी वृद्धि नहीं होगी। बैंक की जमा तो उतनी ही रहेगी जितनी कि वह पहले थी अथवा जितनी उस दशा में होती जबकि वह व्यक्ति अपने प्रस्तुत आचरण से विपरीत निश्चय करता। अस्तु, इस दशा में जो कुछ हुआ है वह केवल यही है कि उनकी गतिशीलता कुछ धीमी पड़ गई है। इस कथन में तो मानो सम्पूर्ण वस्तुस्थिति की कुंजी ही निहित है। यदि निक्षेपक अर्थात् जमा कराने वाले व्यक्ति (depositors) बैंक में से धन निकालकर खर्च करने में संकोच करेंगे तो मंडियों में आने वाला मुद्रा का दैनिक प्रवाह हल्का पड़ जाएगा और फलस्वरूप दुकानदारों को विवश होकर अपना माल बेचने के लिए कीमतें कम करनी होंगी। ऐसा होने पर मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा। अतः, यद्यपि मुद्रा के परिमाण की दृष्टि से तो लोगों के बैंक खातों में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई तथापि वास्तविक मूल्य की दृष्टि से उनमें वृद्धि हो गई और इस प्रकार निक्षेपकों ने मुद्रा के रूप में वास्तविक मूल्य का एक अधिकतर परिमाण संग्रहीत करने का लक्ष्य प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं, इसके साथ एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी हुई कि उन्होंने बचत की सामान्य असुवि-

धाओं को सहे विना ही अर्थात् आवश्यक और इच्छित वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग का त्याग किये बिना ही अपना यह उद्देश्य पूरा कर लिया। ऊपर यह कहा जा चुका है कि उत्पादकों तथा व्यापारियों ने वस्तुओं तथा सेवाओं की पहले जितनी मात्रा को बेचने के लिए ही कीमतें घटाई[1]। अतः जनता द्वारा की जाने वाली मितव्ययता व्यर्थ ही रही, उससे व्यापार अथवा उद्योग-धंधों को तनिक भी लाभ न हुआ।

कल्पना कीजिए कि इन परिस्थितियों में बैंक अपने ऋणों को इस ढंग से बढ़ाता है जिससे ऋण माँगने वाले प्रार्थियों की माँग में होने वाली वृद्धि मितव्ययी निक्षेपकों की माँग में होने वाली कमी को संतुलित कर देती है और इस प्रकार दुकानदारों को दाम घटाने से रोकती है। यदि बैंक इस प्रकार कार्य करता है तो वह समाज का उपकार ही करेगा, उस पर अत्याचार नहीं। वह जन साधारण पर अवांछनीय भार थोपने के बदले उनकी मितव्ययता की भावना को लाभदायक और सफल बनाने में हाथ बटाएगा। उस दशा में लोगों के खातों में जमा होने वाली नई मुद्रा उनके द्वारा की जाने वाली बढ़ी हुई बचत का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व कर सकेगी। इस अध्याय के प्रथम खंड में सेब पैदा करने वाले किसान को दिये गये ऋण की कहानी की मूल व्याख्या में हमने वास्तव में ऐसे ही तरीके की कल्पना की थी।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम अपनी वास्तविक बैंक-प्रणाली से इस ढंग पर चलने की आशा कर सकते हैं? यह बात तो किसी हद तक प्रचलित नियमों और प्रथाओं पर निर्भर है। मिसाल के तौर पर अमरीका में (जैसा कि तीसरे अध्याय में कहा जा चुका है) चालू या याचित निक्षेपों (demand deposits) की तुलना में (जिनमें से

१. यहाँ हम धनोत्पादन में बाधक उन सब गौण प्रभावों की उपेक्षा कर रहे हैं जो गिरते हुए मूल्य-स्तर के कारण होते हैं (अध्याय १, खंड ७)।

किसी भी समय द्रव्य निकाला जा सकता है) स्थायी या काल निक्षेपों (time deposits) के लिए (जिनमें से पूर्व सूचना के बिना द्रव्य नहीं निकाला जा सकता) रक्षित कोष का अपेक्षाकृत कम अनुपात कानूनन निर्धारित है। ऐसी दशा में निक्षेपकों की बढ़ी हुई मितव्ययिता एक सीमा तक चालू निक्षेपों को स्थायी निक्षेपों में परिवर्तित करा कर प्रकट हो सकती है और इस प्रकार बैंकों को रक्षित कोष संबंधी नियमों का उल्लंघन किये बिना ही अपने ऋणों का विस्तार करने की सुविधा मिल जाती है। चालू निक्षेपों के स्थान पर स्थायी निक्षेपों की इस प्रकार की वृद्धि वास्तव में पिछले कुछ वर्षों में अमरीका के बैंक इतिहास की प्रमुख विशेषता रही है। इसके विपरीत, इंगलैंड में बैंक अपने सार्वजनिक खातों (Public Accounts) में जमा खातों (deposit Accounts—जिनमें से पूर्व सूचना के बिना द्रव्य नहीं निकाला जा सकता) और चालू खातों (Current Accounts—जिनमें से द्रव्य निकालने के लिए किसी पूर्व सूचना की आवश्यकता नहीं होती) के बीच कोई भेद नहीं मानते। जहाँ तक मालूम है, वे अपनी रक्षित कोष-नीति निर्धारित करते समय इन दोनों प्रकार के खातों में कोई अन्तर नहीं मानते। चाहे स्थायी खाते परिमाण में चालू खातों से कम हों (स्काटलैंड में तो ऐसा नहीं है परन्तु इंगलैंड में प्रायः ऐसा ही है) अथवा उन्हीं की भाँति विस्तृत हों (जैसा कि ऊपरी तौर से कभी-कभी हो जाता है) वे तो सामान्यतया निक्षेपों के लिए लगभग उसी अनुपात में रक्षित कोष रखते हैं। इस प्रकार हमें यह सन्देह करने का एक नया कारण मिल जाता है कि रक्षित कोष के मामले में निश्चित नियमों से जकड़ी हुई बैंक-प्रणाली सभी परिस्थितियों में जन-हित के लिए अनुकूल नहीं रहती।

ऊपर जिस दशा का उल्लेख किया गया है उससे विपरीत दशा का अनुमान पाठक सहज ही में लगा सकते हैं, उन्हें यह समझने में

देर न लगेगी कि यदि लोग बैंक के माध्यम द्वारा बचाई गई अपनी कुछ वास्तविक बचत वापिस निकालने का निश्चय करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे बहुत तेजी के साथ अपने खाते खर्च करने लगते हैं तो वे केवल कीमतों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके एक-दूसरे को उस बढ़े हुए उपभोग से वंचित कर देंगे जिसकी उन्होंने आशा की थी। जब तक कि बैंक अपने ऋणों की मात्रा कम करने का सही कदम न उठा लेगा तब तक वह जनता पर अनिवार्य बचत उसी प्रकार थोपता रहेगा जिस प्रकार कि जनता के आचरण में ऐसा कोई परिवर्तन न होने पर वह अपने ऋणों के परिमाण में वृद्धि लाकर (जैसा कि तीसरे प्रकरण में स्पष्ट किया गया है) थोपेगा। अस्तु, हम अन्तिम रूप से इस बात पर बल नहीं दे सकते (जैसा कि हमने तीसरे प्रकरण के आरम्भ में अस्थायी रूप से किया था) कि जब तक बैंक पुराने ऋणों का भुगतान हो जाने पर ही नये ऋण देता है तब तक सब कुछ ठीक रहता है। विचाराधीन परिस्थितियों में तो यदि बैंक ऐसा करता है तो सब कुछ बिल्कुल ठीक नहीं रहेगा। इस प्रकार यहाँ एक बार फिर हमारे मन में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि रक्षित कोषों के मामले में निश्चित नियमों में जकड़े हुए बैंक से क्या उस कदम की आशा की जा सकती है जिसे हमने इन परिस्थितियों में समुचित माना है?

§५. बैंक ऋण और औद्योगिक प्रगति (Bank Loans and Industrial Progress)—अध्ययन की सुविधा के लिए अभी तक हम यह कल्पना करते आये हैं कि जिस देश के विषय में हम विचार कर रहे हैं वहाँ जनसंख्या और टेकनिकल योग्यता की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं होता परन्तु वास्तव में जिन देशों को विचार के लिए लिया जा सकता है, उनमें से अधिकांश यदि प्रति व्यक्ति सम्पत्ति की दृष्टि से नहीं तो जनसंख्या और कुल सम्पत्ति की दृष्टि से प्रतिवर्ष बढ़ते जाते हैं। ऐसी दशा में यह कल्पना करना स्वाभाविक जान पड़ता

हैं कि यदि बैंक भी देश की कुल बढ़ी हुई सम्पत्ति के अनुपात के अनुसार ही प्रति वर्ष अपने ऋण और तदनुरूप मुद्रा-पूर्ति बढ़ाते रहें तो यह कोई आपत्ति की बात न होगी परन्तु हमने अब तक जो कुछ पढ़ा-समझा है उसके आधार पर इस बात को भी ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेने की इच्छा नहीं होती। और, जैसा कि हम अभी देखेंगे हमारा संशय करना अच्छा ही होगा किन्तु यदि हम अभी यह कल्पना करलें कि कुल सम्पत्ति में होने वाली वृद्धि केवल बढ़ी हुई आबादी का ही फल है और साथ ही यह भी मान लें कि यह वृद्धि समान रूप से प्रति वर्ष होती रहती है तो हम देखेंगे कि सामान्य दृष्टिकोण पूर्णतः सही है। हम यह पूरा मामला इस तरह रख सकते हैं। आबादी बढ़ने के साथ-साथ प्रति वर्ष ऐसे लोगों का नया समुदाय सामने आता है जिसे कुछ आय प्राप्त होनी शुरू हो जाती है (चाहे वह आय जेब खर्च के ही रूप में हो) और जो मुद्रा के रूप में कुछ-न-कुछ संचय की इच्छा करने लगते हैं और यदि ऐसी दशा में मुद्रा-पूर्ति में समानरूप से वृद्धि न हो तो लगभग वैसी ही स्थिति पैदा हो लेगी जिसका उल्लेख हमने चौथे प्रकरण के आरम्भ में किया है। यद्यपि ये लोग मुद्रा-संचय करने में निस्संदेह सफल हो जायेंगे तथापि अपेक्षाकृत नीची कीमतों और समष्टि रूप से समाज के बढ़े हुए उपभोग के रूप में उनकी यह बचत व्यर्थ ही खर्च हो जाएगी और वह व्यापार तथा उद्योग-धंधों को कोई सक्रिय सहायता नहीं पहुँचा सकेगी। अस्तु, जहाँ तक किन्हीं दो तिथियों के बीच होने वाली बैंक-मुद्रा की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि स संतुलित हो जाती है, वहाँ तक तो बैंक आराम की नींद सो सकता है। परन्तु यह दूसरी बात है कि किसी विशेष बैंक-प्रणाली से इस परिणाम की आशा भी की जा सकती है या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर तो बैंक के रक्षित कोषों के व्यवहार पर ही निर्भर करता है।

यदि कुल सम्पत्ति में होने वाली यह वृद्धि पूर्णतया जनसंख्या की बढ़ोतरी के कारण न होकर आंशिक रूप से व्यक्तिगत उत्पादन-

शीलता में होने वाली वृद्धि के कारण हो (जैसा कि पिछले कुछ वर्षों में अमरीका में हुआ है) तो स्थिति बिल्कुल भिन्न होगी। इस स्थिति को ठीक तरह से समझने के लिए हम यह कल्पना करते हैं कि जनसंख्या में बिल्कुल भी वृद्धि नहीं हुई है और अच्छी मशीनों युक्त व्यवस्था अथवा किसी भी अन्य कारण से प्रत्येक व्यक्ति की वस्तुएँ और सेवाएँ उत्पन्न करने वाली शक्ति दुगुना हो गई है। यदि मुद्रा की पूर्ति अब भी ज्यों-की-त्यों वनी रहती है तो दुकानदारों आदि को वस्तुओं की बढ़ी हुई मात्रा को बेचने के लिए कीमतें पहले से आधी करनी पड़ेंगी। इस प्रकार मुद्रा इकाई का मूल्य दुगुना हो जाएगा और फलस्वरूप लोगों के खातों के स्टाक का कुल मूल्य भी जिसका हस्तांतरण नहीं हुआ है। परन्तु लोगों के हिसाब-खातों के मूल्य में होने वाली यह वृद्धि उनकी ओर से की जाने वाली किसी नयी बचत का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह तो केवल उनकी बढ़ी हुई उत्पादनशीलता की झलक अथवा अभिव्यक्ति है। अतः इन परिस्थितियों में यदि बैंक अपने ऋणों में इस ढंग से विस्तार करता है जिससे कीमतों का स्तर नीचे न गिरने पाए तो इससे जनता की नयी तथा स्वेच्छापूर्वक की गयी बचत उद्योग-धंधों के लिए उपलब्ध नहीं होगी, जैसा कि उस समय होता है जबकि बैंक लोगों की मितव्ययता तथा जनसंख्या में होने वाली बढ़ोतरी के अनुसार अपने ऋण बढ़ाता है। इसके विपरीत यदि वह इन परिस्थितियों में कीमतों का स्तर स्थिर रखता है तो वह लोगों से लगभग उसी प्रकार अनिवार्य बचत खींचेगा जिस प्रकार कि वह उस दशा में खींचता है जबकि सामान्य परिस्थितियों में वह मुद्रा की पूर्ति में इस ढंग से वृद्धि करता है जिससे कि कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे विवेचन में यह पहला अवसर है जब सामान्य कीमतों का स्तर बनाए रखने के लिए अपेक्षित बैंक की चेष्टा उस चेष्टा से भिन्न सिद्ध होती है जो वह व्यापार और उद्योग-धंधों के हाथों में केवल उतनी ही नयी बचत सौंपने के लिए करता है जितनी जनता उसके

माध्यम द्वारा संग्रहीत करना चाहती है। यहाँ हमारे लिए यह निश्चित करना आवश्यक नहीं कि बैंक के लिए इन दोनों में से कौन-से मार्ग पर चलना उचित है। किन्तु हमें यहाँ फिर इस बात पर सन्देह हो सकता है कि रक्षित कोषों के सम्बन्ध में स्थिर नियमों में जकड़ी हुई बैंक-प्रणाली क्या वास्तव में प्रभावपूर्ण ढंग से इन दोनों में से किसी मार्ग पर चल भी सकेगी ?

§६. **बैंक ऋण और व्यापार की आवश्यकताएँ** (Bank Loans and the Needs of Trade)—रिज़र्व संबंधी इन नियमों के कार्य व्यापार के बारे में हमारी शंकाएँ इतनी आगे बढ़ चुकी हैं कि यहाँ हमारे लिए यह अच्छा होगा कि उस प्रस्ताव पर तनिक विचार करलें जो इस प्रकार की शंकाएँ रखने वाले उन असंख्य व्याख्याताओं और लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जो निरन्तर इस बात पर जोर देते हैं कि बैंक-प्रणाली का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह व्यापार और उद्योग-धंधों की आवश्यकताओं के अनुसार चले। संक्षेप में उनका प्रस्ताव यह है कि उचित अवधि में १००० पौंड का माल बेच सकने की सम्भावना सिद्ध कर देने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बैंक से १००० पौंड उधार ले सकने का अधिकार मिल जाना चाहिए।

इस प्रस्ताव को एक सत्याभास के रूप में अभिव्यक्त करना कठिन नहीं। मान लें कि मि० एगमैन और मि० आरेंजमैन नामक दो व्यक्ति

१. यदि बैंक वास्तव में अपने नये ऋण इस प्रकार आयोजित कर सके जिससे सब सक्रिय श्रमिकों की मुद्रा आय में एकदम वृद्धि हो जाय तो यह अनिवार्य बचत उन निक्षेपकों तक ही सीमित रहेगी जो सरकार अथवा कम्पनियों आदि के लेनदार हैं (अध्याय १) और एक दृष्टि से जो उस आकस्मिक लाभ के योग्य भी नहीं हैं जो उन्हें अन्यथा प्राप्त होता। किन्तु यह कार्य बहुत ही दुष्कर है और समानता का प्रश्न, जिस पर अध्याय ७, प्रकरण १, में विस्तार के साथ विचार किया गया है, स्पष्ट नहीं है।

हवाई जहाजों द्वारा दो भिन्न दिशाओं से आकर किसी देश में उतरते हैं। मि० एगमैन के पास दो अण्डों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और मि० आरेंजमैन के पास केवल दो सन्तरे हैं। प्रत्येक अण्डे या सन्तरे की कीमत ६ पैंस हैं। हम यह भी मान लें कि इन दोनों में से प्रत्येक व्यक्ति अपना आधा राशन खाकर बाकी आधे का विनिमय अपने साथी के शेष राशन के साथ कर लेने को तैयार है किन्तु सभ्यता और आधुनिक व्यापार प्रणाली में बहुत आगे बढ़े-चढ़े होने के कारण वे वस्तु-विनिमय (direct exchange) का सहारा लेना पसन्द नहीं करते। ऐसी दशा में उनके लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय यही होगा कि वे निकटतम बैंक का दरवाजा खटखटाएँ और उससे अनुरोध करें कि वह उनके माल के आधार पर, उनमें से प्रत्येक को ६-६ पेंस उधार दे दें। बैंक में खाता खुल जाने पर उनमें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को, उसके माल के भुगतान में, ६ पेंस का चैक काटकर दे देगा। इस प्रकार मिलने वाले चैक से दोनों व्यक्ति बैंक से लिया गया ऋण चुका देंगे। स्पष्ट है कि इस उपाय से सबने सन्तोषजनक ढंग से अपना काम निकाल लिया। दोनों परदेशी सब कुछ होते हुए भी भूखे मरने से बच गये। उधर बाकी सारा देश निर्विघ्न अपने काम में लगा रहा क्योंकि इस प्रकार अण्डों और सन्तरों की मंडियों में होने वाली वह भयंकर मन्दी रुक गयी जो अन्यथा अवश्यम्भावी थी। बैंक ने भी व्यापार को चालू रखने का अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया और एक तरह से उसे अपनी सेवा के बदले कुछ पुरस्कार—अण्डे अथवा सन्तरे का छिलका ही सही—भी मिल गया।

इन सब बातों से "व्यापार की आवश्यकताओं" के समर्थकों का उपर्युक्त प्रस्ताव उचित जान पड़ता है। किन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इतनी ही सरलतापूर्वक इस प्रस्ताव का खंडन भी किया जा सकता है। इसके लिए यह मान लें कि मि० आरेंजमैन हवाई जहाज द्वारा कहीं बाहर से नहीं आता, वह एक स्थानीय विक्रेता है। इस

दशा में उसका संतरा, एगमैन के अंडे की भाँति, उस देश की वस्तुओं के परिमाण में शुद्ध वृद्धि नहीं करेगा। यदि यह भी मान लें कि केवल मि० एगमैन, मि० आरेंजमैन से सन्तरा खरीदने के लिए, बैंक से ऋण लेता है और उसके आधार पर वह आरेंजमैन के नाम ६ पेंस का चैक काट देता है तो आरेंजमैन के लिए यह सम्भव हो जाएगा कि वह मि० एगमैन से मिलने वाला चैक बैंक में देकर उसके आधार पर उतनी ही रकम का एक चैक काटकर उसके बदले मि० एगमैन से अण्डा खरीद ले। अब देखना यह है कि इस बार खास बात क्या हुई ? बैंक-ऋणों के परिमाण और (प्रचलित कीमतों के अनुसार आँके गये) विनिमय योग्य वस्तुओं के प्रवाह, दोनों में ही ६ पेंस की वृद्धि हुई। किन्तु उपलब्ध मुद्रा का प्रवाह १ शिलिंग (अर्थात् ६-६ पेंस के दो चैकों के रूप में) बढ़ गया। परिणाम यह हुआ कि व्यापार और कीमतों की स्थिरता छिन्न-भिन्न हो गयी क्योंकि अण्डों के लिए मि० आरेंजमैन की बढ़ी हुई मुद्रा माँग तो अण्डों की बढ़ी हुई पूर्ति से संतुलित हो गयी किन्तु सन्तरों के लिए मि० एगमैन की बढ़ी हुई मुद्रा-माँग सन्तरों की बढ़ी हुई पूर्ति द्वारा संतुलित नहीं हुई। फलस्वरूप सन्तरों की कीमत बढ़ने लगी।

अब इस उदाहरण को और आगे बढ़ाएँ। मान लें कि मि० एगमैन, पहले की भाँति, इस बार भी बैंक ऋण लेकर मि० आरेंजमैन का सन्तरा तो खरीद लेता है किन्तु अपना अण्डा शीत-कोष्ठ (cold storage) में रख लेता है और उसे बेचने से इनकार कर देता है तो ऐसा होने पर मि० आरेंजमैन बैंक से लिये गये ऋण का प्रयोग कदाचित् अपने पड़ौसी मि० टोबेकोमैन से एक पैकिट सिगरेट खरीदने में करेगा। मि० टोबेकोमैन उसी धन से मि० ब्रेडमैन से एक रोटी खरीद लेगा और इसी प्रकार यह चक्र चलता रहेगा। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दशा में मि० एगमैन ने जिस ऋण या हिसाब-खाते की सृष्टि की थी वह प्रथम उदाहरण की भाँति एक बार, अथवा

द्वितीय उदाहरण की भाँति दो बार नहीं अपितु कई बार अपना स्थान बदलेगा।

इस प्रकार देखने में तो यही जान पड़ता है कि हमारे उदाहरण का उपर्युक्त तीसरा और अन्तिम रूपान्तर ही वास्तविक जीवन में पाई जाने वाली परिस्थितियों से पूरी तरह मेल खाता है। बात यह है कि बैंक से ऋण लेने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति सदा ही ऊपर वर्णित उस आरेंजमैन और एगमैन के समान नहीं होते जिनके पास बेचने के लिए माल तो था, किन्तु जिनके सामने एक विशेष कठिनाई थी। वास्तविक जीवन में बैंक से ऋण लेने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के पास प्रायः तत्काल बेचने के लिए माल तैयार नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि वह व्यक्ति दुकानदार है तो उसका माल उसके शो-रूम या शो केस में होगा, आयातक व्यापारी है तो उसका माल समुद्र की लहरों पर होगा, किसान है तो उसका माल पृथ्वी तल में छिपा होगा और यदि वह कोई अन्वेषक है तो उसका माल उसके मस्तिष्क में ही होगा। इन सब बातों में केवल मात्रा भेद है। प्रत्येक दशा में होता यही है कि जिस अवधि में वस्तुएँ उत्पन्न हो रही हैं उस समय उन वस्तुओं के आधार पर उत्पन्न की जाने वाली मुद्रा बराबर यात्रा करती रहती है और जिन-जिन स्थानों पर वह टिकती है वहाँ वह वस्तुएँ खरीदने के लिए किसी-न-किसी व्यक्ति की इच्छा बढ़ाकर कीमतें ऊँची करती रहती है। वस्तुएँ उत्पन्न होने में जितना अधिक समय लगता है मुद्रा को उतनी ही अधिक हानि पहुँचाने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार हमारे हृदय में उन ऋणों के सम्बन्ध में एक विशेष भयपूर्ण सन्देह उत्पन्न हो जाता है, जो स्वयं बैंकर के शब्दों में, उसकी मुद्रा को दीर्घ काल के लिए "जकड़ देते हैं" यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, वास्तव में वस्तुएँ जकड़ी जाती हैं, मुद्रा नहीं जकड़ी जाती। मुद्रा तो लगभग स्वतन्त्र है और चारों ओर विचरण करती रहती है।

इसमें तो सन्देह नहीं कि इस प्रकार हम किसी निश्चित निष्कर्ष

तक नहीं पहुँच सकेंगे किन्तु अब हमारे पास यह सन्देह करने के पर्याप्त कारण हो गये हैं कि व्यापार की आवश्यकताओं का समर्थन करनेवालों की माँग का औचित्य किसी-न-किसी प्रकार दो बातों के साथ सम्बद्ध है : (१) मुद्रा का चलन-वेग (Velocity of Circulation) और (२) एक ऐसी वस्तु जिसे हम माल के उत्पादन की औसत अवधि कह सकते हैं। इतना ही नहीं, अब तो एक और गम्भीर बौद्धिक प्रयत्न करके हम इस माँग विशेष के औचित्य पर कुछ अधिक सुनिश्चित विचार प्रकट करने और इस अध्याय के प्रारम्भिक प्रकरणों में सीखी गई अधिकतर बातों का सारांश निकालने में भी सफल हो सकेंगे।

§७. **अस्थायी पूँजी** (Circulating Capital)—पहले की भाँति अब भी हम यह मानकर चलें कि विचाराधीन देश जनसंख्या और सम्पदा की दृष्टि से स्थिर है। इस प्रकार के देश में किसी भी समय ऐसा बहुत-सा माल देखा जा सकता है जो पूरी तरह तैयार नहीं होता, अर्थात् जिस माल पर श्रम और अन्य अनेक प्रकार की शक्तियाँ तो खर्च हो चुकी होती हैं, किंतु जो तत्काल उपभोग्य नहीं होता। अस्थायी पूँजी (इस अपूर्ण माल को यह नाम दिया गया है) के इस विशाल पुंज में केवल दुकानदार की अलमारियों में रखी कमीजों और गोदामों या जहाजों में भरे कच्ची कपास के संग्रहों का ही समावेश नहीं होता, इसमें तो उस अधबुने कपड़े की भी गणना की जाती है जो अभी तकुवों और खड्डियों के बीच की स्थिति में ही होता है। सच तो यह है कि अस्थायी पूँजी में कुछ तो ऐसी भी वस्तुएँ—उदाहरणार्थ कारखानों में बरता जानेवाला कोयला और कीट-पतंगों को मारने के लिए प्रयुक्त होने वाला विष—शामिल होती हैं जो कभी उपभोक्ता के हाथों तक पहुँचती ही नहीं और कुछ ऐसी वस्तुएँ भी इसके अन्तर्गत आ जाती हैं (उदाहरणार्थ ऐसा नाटक जिसकी पूरी तैयारी तो हो चुकी है किन्तु जो अभी रंगमंच पर खेला नहीं गया अथवा ऐसा भाषण जो तैयार तो किया जा चुका है किन्तु दिया नहीं गया) जिन्हें केवल विश्वास

की आँख से ही देखा जा सकता है। इस अस्थायी पूँजी का प्रस्तुत परिमाण अंशत: वस्तुओं और सेवाओं के वार्षिक प्रवाह के आकार पर निर्भर होता है जिसे हम वास्तविक राष्ट्रीय आय कह कर पुकारते हैं (अध्याय २) और अंशत: उस रफ्तार अथवा वेग पर (दूसरे शब्दों में जिसे हमने अभी वस्तु-उत्पादन की औसत अवधि कहा है उसकी लम्बाई पर) निर्भर होता है, जिससे औसतन वस्तुएँ, उपभोक्ता के उपभोग के लिए, तैयार की जाती हैं। सरलता के विचार से यदि हम यह मान लें कि वस्तुओं की तैयारी पर होने वाले श्रम का खर्च सम गति से होता है, तो हम यह कह सकते हैं कि उत्पादन की किसी अवधि में वर्तमान अस्थायी पूँजी, मूल्य में, पूरे उत्पादन से आधी होगी। उदाहरणार्थ यदि हम उत्पादन प्रणाली की एक ऐसी विशाल, सासेज तयार करने वाली, मशीन की भाँति मान लें जो १० मिनट में एक चक्कर पूरा करती है और प्रति मिनट एक सासेज तैयार करके बाहर निकालती जाती है तो इस प्रकार बाहर आनेवाला एक सासेज तो ९ मिनट तक मशीन के अन्दर रहेगा और एक केवल १ मिनट तक लेकिन औसतन सासेज ५ मिनट तक मशीन के अन्दर रहेंगे और उनका औसत मूल्य ५ मिनट तक मशीन संचालन के मूल्य अर्थात् तैयार सासेज के आधे मूल्य के बराबर होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि १० अधबनी वस्तुओं (सासेजों) का मूल्य ५ तैयार सासेजों के बराबर अथवा पाँच मिनट के उत्पादन के मूल्य के बराबर होगा।

"आधे" के इस अंक के सम्बन्ध में गणित और बैंक-पद्धति की एक साधारण अड़चन को पहले से ही दूर कर लेना लाभप्रद होगा। प्रकरण १ में हमने कल्पना की थी कि बैंक ने किसान को एक ऐसे ढंग से सहायता दी जिसे सीमित अर्थों में ऋण कहा जाता है, अर्थात् बैंक ने उसी समय किसान का हिसाब-खाता खोलकर १००० पौंड उसकी इच्छा पर छोड़ दिये और इस प्रकार बैंक की जमा में तत्काल १००० पौंड की वृद्धि हो गयी। अमरीका और लन्दन में यही ढंग प्रचलित है,

किन्तु अपनी पहली कल्पना के बदले हम यह कल्पना भी कर सकते थे कि बैंक किसान को ऋण देने के लिए यह तरीका अपनाता है जो ग्रेट ब्रिटेन के दूसरे भागों में प्रचलित है और जिसे अधि विकर्ष (overdraft) का तरीका कहा जाता है। इस दशा में भी बैंक किसान को १००० पौंड तक के चेक जारी करने का अधिकार तो दे देगा किन्तु जब तक वास्तव में वे चेक काट नहीं दिये जायेंगे और दूसरे लोगों के खातों में उनका भुगतान नहीं हो जाएगा तब तक इस सौदे की कोई झलक बैंक के स्थिति-विवरण (Balance Sheet) में दिखाई नहीं देगी। यह कल्पना कर लेने पर कि किसान सम गति से खरीदारी करता है, हम देखेंगे कि उपर्युक्त दोनों तरीकों में से प्रत्येक में किसान वास्तव में उक्त अवधि में १००० पौंड औसत रकम के लिए नहीं अपितु ५०० पौंड की औसत रकम के लिए बैंक का ऋणी रहता है क्योंकि ऋण-प्रणाली के अन्तर्गत किसान वस्तुतः सदा ही बैंक से लिये जानेवाले ऋण का एक भाग बैंक को फिर से उधार देता रहता है। व्यापारी की स्थिति इससे कुछ भिन्न है क्योंकि उसे तो तभी लाभ हो सकेगा जब उसके पास तत्काल १००० पौंड हों किन्तु वह भी, सेबों को क्रमशः मंडी में उतारने के कारण, औसतन वास्तव में ५०० पौंड का ही ऋणी रहता है। अस्तु, हम यह मान सकते हैं कि जब "व्यापार की आवश्यकताओं" का समर्थन करनेवाला दल यह माँग करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह मंडी में जितना माल लाने की इच्छा रखता हो उस माल के पूरे विक्रय मूल्य के बराबर तक की रकम बैंक से उधार ले ले, तो उसका आशय यह होता है कि उक्त व्यक्ति को औसतन उस रकम से आधी के लिए—अर्थात् अपनी सम्पूर्ण अस्थायी पूँजी के मूल्य के लिए—बैंक का ऋणी रहने का अधिकार दे दिया जाना चाहिए।

§८. **चार निर्णायक अंश** (Four Crucial Fractions)—अब हम अपना मुख्य सूत्र फिर पकड़ते हैं। आरम्भ में हम यह कल्पना

करके चलें कि यह अस्थायी पूँजी पूर्णतया बैंक-ऋणों द्वारा निर्मित हुई है और इसमें निहित बचत पूर्णतया, प्रकरण १ में सुझाये गये ढंग से, बैंक के उन निक्षेपकों द्वारा जुटायी गयी है जिन्होंने भूतकाल में किसी समय उपभोग करने के अपने पूरे कानूनी अधिकारों का उपयोग न करने का निश्चय किया और जिनकी, धन बचाने की भावना को बैंक ने साकार रूप प्रदान किया। हम यह भी मान लें कि बैंक ने अपने हिस्सेदारों द्वारा जुटाये गये साधनों के अतिरिक्त अपने अधीनस्थ समस्त साधनों का प्रयोग अस्थायी पूँजी के निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए कर लिया है और, व्यापारियों तथा उत्पादकों को दिए गये ऋणों के अतिरिक्त, उसके पास निक्षेपकों के प्रति अपने देयों (liabilities) की पूर्ति करने के लिए और कोई परिसम्पद् (assets) नहीं हैं। इस प्रकार सार्वजनिक चेकरियों अथवा हिसाब-खातों का कुल वास्तविक मूल्य अस्थायी पूँजी के कुल वास्तविक मूल्य के बराबर होगा। यह तो हम जानते ही हैं (अध्याय २) कि इनमें से प्रथम (सार्वजनिक चेकरियाँ) वार्षिक राष्ट्रीय आय के एक अंश के रूप में अभिव्यक्त की जा सकती हैं, अब हम यह देखते हैं कि द्वितीय (अस्थायी पूँजी) को भी एक ऐसे ही अंश के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। यह अंश उस अनुपात के आधे के बराबर होगा जो उत्पादन की अवधि और एक वर्ष के बीच है। उदाहरणार्थ यदि उत्पादन की अवधि एक पूरे वर्ष के बराबर है तो अस्थायी पूँजी ६ महीने की आय के बराबर होगी। अतः सन्तुलन बना रहने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक चेकरियों का वास्तविक मूल्य ६ महीने की आय के वास्तविक मूल्य के बराबर हो। दूसरे शब्दों में, अन्तिम रूप से वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिए मुद्रा का चलन वर्ष में दो बार (अर्थात् उत्पादन की एक अवधि में दो बार)* होना आवश्यक है। इस निष्कर्ष का "व्यापार की आवश्यकताओं" का समर्थन करनेवाले दल की माँगों के साथ क्या सम्बन्ध है? जिस प्रकार के स्थिर

देश पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, ऐसे देश में समस्त नये ऋण उस प्रकार के स्थानान्तरण ऋण (Replacement Loans) होते हैं जिनकी परख हमने द्वितीय प्रकरण में की है। अतः, जिन दशाओं को हमने मान लिया है उनमें ऋण लेने वाले किसी व्यक्ति के लिए यह सर्वथा उचित है कि उसे अपनी अस्थायी पूँजी का निर्माण करने के लिए जितनी धन-राशि की आवश्यकता हो वह पूरी रकम बैंकों से ही ले ले। ऐसा करने से संतुलन में किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ेगा। प्रकरण ५ में हमने ऐसे देश के बारे में जो कुछ कहा था, जहाँ जन-संख्या एक सम गति से बढ़ रही है, उसे याद करने पर हम देखेंगे कि ऐसे देश में भी, जब तक हमारे द्वारा निर्धारित बाकी सब शर्तें पूरी होती रहेंगी तब तक व्यापार की आवश्यकताओं का समर्थन करने वाले दल की माँगें पूर्णतः उचित ठहरेंगी।

अब हम इन स्थितियों को बदलने के लिए यह कल्पना करलें कि बैंकों द्वारा नियन्त्रित साधनों का केवल आधा भाग ही अस्थायी पूँजी में निहित होता है और शेष भाग स्थायी पूँजी (Fixed Capital) सरकार को दिये गये ऋणों, आलीशान इमारतों और रक्षित निधियों या रिज़र्वों में निहित होता है। हम यह भी कल्पना करलें कि केवल आधी अस्थायी पूँजी ही बैंक-ऋणों द्वारा निर्मित हुई है और बाकी आधी का निर्माण व्यापार-पतियों ने (चाहे वे व्यक्तिगत व्यापारी हों अथवा सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के स्वामी) अपने ही साधनों द्वारा किया है। ऐसी स्थितियों में (जो कदाचित् इंगलेंड में व्याप्त स्थितियों का लगभग प्रतिनिधित्व भी करती हैं) यदि कोई व्यक्ति-गत ऋण लेने वाला, किसी स्थिर अथवा धीरे-धीरे विकसित होने वाले समाज में भी, अपनी सम्पूर्ण अस्थायी पूँजी बैंक-ऋणों द्वारा जुटाने का प्रयत्न करता है, तो वह संतुलन की स्थितियों को अस्त-व्यस्त कर देगा और जनता पर अनिवार्य बचत थोपने का भी कारण बनेगा।

इस विषय को अपेक्षाकृत अधिक सरल ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। जनता मुद्रा के रूप में जो बचत करना चाहती है उसका परिमाण और उद्योग द्वारा अभीष्ट अस्थायी पूँजी का परिमाण दो सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। इनमें से एक शक्ति मूलतः मनोवैज्ञानिक है और दूसरी मुख्यतः शिल्पिक अथवा टेकनिकल। स्थिर अथवा धीरे-धीरे विकसित होने वाले समाज में भी इन दोनों शक्तियों के बीच संतुलन केवल एक ओर तो उन प्रथाओं के परिणामस्वरूप स्थापित होता है जो बैंकरों में, उन्हें सौंपे गये साधनों के प्रयोगों के सम्बन्ध में, प्रचलित होती हैं और दूसरी ओर उन प्रथाओं के फलस्वरूप जिनसे यह निर्धारित होता है कि किस हद तक व्यापारी और उद्योगपति अपनी अस्थायी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बैंक का दरवाजा खटखटा सकते हैं। यदि व्यापारी का वह अधिकार मान लिया गया कि वह अपनी आवश्यकतानुसार पूरी अस्थायी पूँजी का प्रबन्ध करने के लिए बैंक से पर्याप्त ऋण माँग सकता है तो यह नाजुक संतुलन अस्त-व्यस्त हो जायगा। मुद्रा-चलन के एक निश्चित वेग (velocity) में उत्पादन की अवधि जितनी लम्बी होगी, यह अस्त-व्यस्तता भी उतनी ही अधिक होगी और निश्चित उत्पादन काल में यह अस्त-व्यस्तता उतनी ही अधिक होगी जितना मुद्रा-चलन का वेग।

उपर्युक्त बात यदि स्थानान्तरण ऋणों अथवा उन ऋणों के विषय में सत्य है जो एक स्थायी विकासशील प्रणाली के प्रतीक हैं, तो ऐसे किसी ऋण के सम्बन्ध में तो यह और भी अधिक सत्य है जो सामान्य परिस्थितियों से किसी प्रकार की भिन्नता का द्योतक होता है। उदाहरणार्थ, यदि जनसंख्या तेजी के साथ बढ़ रही है अथवा जनसंख्या में होने वाली वृद्धि से कहीं अधिक तेजी के साथ विकास-कार्य करने का प्रयत्न किया जा रहा है अथवा यदि औसत से अधिक लम्बी उत्पादन अवधि वाली वस्तुओं के उत्पादन में असामान्य रूप से अधिक

साधन लगा दिये गए हैं तो व्यापार की आवश्यकताओं की चीख-पुकार स्वीकार करने का प्रयत्न करने वाली बैंक-प्रणाली को जनता पर अनिवार्य बचत थोपने के भयंकर संकट में पदार्पण करना ही होगा। यदि बैंक अपने असामियों की, अस्थायी पूँजी सम्बन्धी, सम्पूर्ण आवश्यकता पूरी करने का प्रयत्न करता है तब तो यह संकट अवश्यम्भावी ही हो जाता है।[1]

---

१. प्रतीकों के प्रयोगों से न घबराकर उनसे लाभ उठा सकने वाले पाठक को परिशिष्ट (ख) देखना चाहिए और अन्य पाठकों को अन्तिम दो प्रकरण फिर पढ़ने चाहिएँ।

अध्याय : : ६

अव्यवस्था-काल में मुद्रा

(Money in the Great Muddle)

१. मौद्रिक क्षय

(Monetary Collapse)

"एक पर एक वे आते ही गये और उनकी संख्या बढ़

—थ्रू दि त

§१. **मुद्रा-पूर्ति में अभिवृद्धि के कारण** (The C
the Expansion of Money Supply)—अब
यह मानने के लिए तैयार होंगे कि सामान्य दिनों में भ
निर्धारित करने वालों का काम सरल नहीं होता। जि
रह रहे हैं, उसकी बात तो और भी कठिन है। १९१४ क
अन्य व्यवस्थाओं की तरह मुद्रा-व्यवस्था को भी उथ
सामना करना पड़ा। उन वर्षों में विभिन्न देशों में
स्थिति थी, इसका विशद अथवा एकसूत्र विवरण देना इ
लक्ष्य नहीं है, किन्तु हम उस विवरण की नितान्त उपेक्षा
सकते। दो कारण ऐसे हैं जो हमें उस काल की मुद्र
विहंगम दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करते हैं। एक तो
भीषण उथल-पुथल के दिनों में भी उन शक्तियों का स
मिलता है जो मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करती हैं और
सामान्य दिनों में भी अपना कार्य करती रहती हैं। दूसरे

हमने अपना काम आसान करने के लिए इस सम्बन्ध में मौन धारण कर लिया था। दूसरा कारण यह है, कि जिन स्थितियों का हमें विवेचन करना है वे यद्यपि इतिहास में आयी गयी बातें हो गयी हैं, उन्होंने हमारी मुद्रा-नीति के मार्ग में रोड़े-पत्थर डाल दिये हैं जिनसे हमारे थके-माँदे पीड़ित पाँवों को और भी कष्ट होता रहेगा।

इस काल के पूर्वार्द्ध में प्रत्येक देश में मुद्रा की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई, यही इस काल की प्रमुख विशेषता है। जो देश युद्ध में सम्मिलित थे वहाँ तो इस वृद्धि का कारण उन देशों की सरकारों की आवश्यकता थी। युद्ध जारी रखने के लिए आवश्यक उपकरणों पर उनका नियंत्रण बना रहे, इसी ओर वे प्रयत्नशील थे। किन्तु शीघ्र ही उन्हें पता चला कि कर लगाने से अथवा सीधे लोगों से उधार लेने से काम नहीं चल सकता। अतः बाध्य होकर उन्हें मुद्रा की अभिवृद्धि करनी पड़ी ताकि जनता को मुद्रा बचाने के लिए विवश किया जा सके। जिस प्रणाली को उन्होंने अपनाया वह हम पाँचवें अध्याय के तीसरे खण्ड में देख चुके हैं, किन्तु सरकारों की आवश्यकताएँ युद्ध-समाप्ति के पश्चात्, जिसे शान्ति का नाम दिया गया, समाप्त नहीं हो गयीं। कुछ देशों में क्रान्ति की आवाज बुलन्द थी और कुछ राष्ट्र सोच रहे थे—उनका अजीब विश्वास था—कि युद्ध के महाविनाश के कारण जीवन-स्तर पहले से अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर हो जायगा। यह एक अच्छी प्रवंचना थी और उसको पोषण भी मिल रहा था। कुछ समय तक तो यह भी स्थिति थी मानों आधी दुनिया जनता के खर्च पर दफ्तरों में इसीलिए बैठी हो कि वह शेष आधी दुनिया पर, जो कुछ तो निठल्ली और कुछ अकर्मण्य थी, निगरानी रखती रहे। इसके अतिरिक्त एक और मजे की बात थी। जर्मनी ने युद्ध के दिनों में जो उच्छृङ्खल विध्वंस किया उसकी हानि फ्रांस को चुकानी पड़ी और कुछ वर्ष पश्चात् शान्ति के दिनों में फ्रांस ने जो उच्छृङ्खल विध्वंस किया उसकी क्षतिपूर्ति जर्मनी को करनी पड़ी। रूसवासियों को एक ओर रूसवासियों से लड़ना पड़ा और दूसरी ओर

स्वर्ण-युग का उद्घाटन करना पड़ा। ब्रिटेन को आयरलैंड में शान्ति-स्थापना करनी पड़ी और पोलैंड को पूर्वी यूरोप में अराजकता—ये दोनों बातें जितनी विरोधी दिखाई पड़ती हैं उतनी हैं नहीं। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का ऋणी था और प्रत्येक को पश्चिम के महान् सर गेलहड के साथ लंबा-चौड़ा हिसाब-किताब रखना पड़ रहा था, चूँकि गेलहड का दिल साफ है इसलिए उसका बिल भी छोटा हो, यह बात नहीं थी। वे महान् दिन थे; हम यही आशा करें कि वैसे दिन फिर हमें न देखने पड़ें।

किन्तु मुद्रा की पूर्ति में इतनी अभिवृद्धि केवल उन्हीं देशों में नहीं हुई जो युद्ध में सम्मिलित थे। अपनी आवश्यकता के कारण सभी देशों को उन उपकरणों को स्थगित करना पड़ा जो मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करा सकते थे। सोना उन तटस्थ देशों को देना पड़ता था जहाँ से आवश्यक वस्तुएँ मिलती थीं और वह वहाँ नोटों तथा बैंक-मुद्रा की अपार राशि की पीठिका बन गया। इस प्रकार १९१४ और १९१९ के बीच सोने का मूल्य भी आधा रह गया फिर युद्ध छेड़ने वाले राष्ट्रों की आवश्यकताएँ इस बुरी तरह बढ़ गयी थीं कि वे मनमाने साधन प्रयुक्त कर सकते थे। समुद्र पर उनका अच्छा-खासा अधिकार था और तटस्थ देशों पर वे दबाव डाल सकते थे। अतः वहाँ के बैंकरों को रिज़र्व के सम्यक् अनुपात का कोई ध्यान रखे बगैर बुरी तरह उधार खाता खोलना पड़ा। अन्त में प्रायः सभी तटस्थ देशों को मान से हाथ धोना पड़ा।

§२. **इंगलैंड में बैंक-मुद्रा की अभिवृद्धि** (The Expansion of Bank Money in England)—मुद्रा अभिवृद्धि की प्रणालियाँ विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की थीं। इंगलैंड के अतिरिक्त यूरोप में जहाँ सामान्य मुद्रा का अधिक महत्व था, सेवाओं तथा वस्तुओं के बदले सरकारें सीधे मुद्रा दे देती थीं। जहाँ सरकारें स्वयं नोट चला सकती थीं वहाँ तो यह तरीका बिना जनसाधारण से उधार लिये

अपनाया जा सकता था, किन्तु जहाँ नोट के चलाने का अधिकार चुने हुए बैंकों को ही था वहाँ तो सरकार को इन बैंकों से आवश्यकतानुसार नोट उधार लेने पड़ते थे और यही बात अधिक प्रचलित थी। इस प्रकार युद्ध के आरम्भ से लेकर नवम्बर १९२३ तक रीख्स बैंक (Reichs bank) से निकले नोटों की संख्या लगभग २ अरब मार्क से लगभग १८ अरब मार्क हो गयी। किन्तु हमारे लिए अधिक लाभप्रद यही होगा कि हम इंगलैंड की उस प्रणाली का अध्ययन करें जो युद्ध काल में वहाँ अपनायी गयी थी क्योंकि अन्य देशों की प्रणालियों से मूलतः भिन्न होने पर उसमें थोड़ा-सा घुमाव अवश्य अधिक था जिससे कि साधारण सरल चित्त लोगों की आँखों में अधिक आसानी से धूल झोंकी जा सके।

इस प्रणाली का मूल स्रोत सरकारी चेकरी थी जो बैंक आफ इंगलैंड में स्थित थी। बैंक आफ इंगलैंड सरकार के लिए महाजन स्वरूप है। यह कोई बड़ी बात नहीं कि सरकार करों से होने वाली आय की आशा में उससे थोड़ी बहुत रकम उधार ले लिया करे। सामान्य दिनों में ये रकमें, जिन्हें अर्थोपाय अग्रिम (Ways and Means Advances) कहते हैं, वित्तीय वर्ष (Financial Year) की समाप्ति के पूर्व ही चुका दी जाती हैं, किन्तु युद्ध के दिनों में ये रकमें इकट्ठी होती गयीं और परिणाम यह हुआ कि यह राशि अत्यन्त विशालकाय हो गयी। इसका प्रभाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण था और जो लोग बैंक आफ इंगलैंड में स्थित सरकारी चेकरी के विषय में कुछ भी ज्ञान रखते हैं वे इस प्रभाव को अच्छी तरह समझ सकते हैं। मान लीजिए सरकार स्याही और कागज-पत्र (Stationery) के १० लाख पौंड के बिल को चुकाने के लिए बैंक आफ इंगलैंड से १० लाख पौंड उधार लेती है। बैंक आफ इंगलैंड में सरकारी चैकरी १० लाख पौंड से बढ़ जाती है, उससे १० लाख पौंड उधार लेकर बिल चुका दिया जाता है। दूकानदार यह रकम अपने बैंक में जमा कराता है

और वह बैंक इस रकम को अपनी चेकरी में बैंक आफ इंगलैंड के पास जमा करा देता है। सरकारी चेकरी की अभिवृद्धि लुप्त हो जाती है, किन्तु वह मिश्रित पूँजीवाले बैंकों (Joint Stock Banks) की अभिवृद्धि में पुनः प्रकट होती है। अब यह स्मरण रहे कि यह बैंक अपनी चेकरी को आंशिक रूप में रिज़र्व मानता है क्योंकि उसके लिए रक्षित कोष और निक्षेपों के अनुपात को बनाये रखना आवश्यक है। जब यह बैंक देखता है कि इसके रिजर्व और निक्षेप दोनों में १० लाख पौंड की अभिवृद्धि हो गयी है और निक्षेपों से रिजर्व का अनुपात अधिक हो गया है तो उसे अपने नियमों के अन्दर ऋणों की मात्रा बढ़ाने का अधिकार होगा—यह मात्रा सरकार के १० लाख से बहुत अधिक होगी[1]। इस प्रकार मूल्यों में जो ऊर्ध्व वृद्धि होगी वह इसी अनुपात में बढ़ जायगी।

बैंक ने जो नये ऋण दिये उनमें कुछ तो व्यवसायी समुदाय के लिए थे और व्यवसायी समुदाय का कार्य प्रायः सरकारी ठेके से सम्बद्ध था। कुछ युद्ध सम्बन्धी ऋणों के क्रय के रूप में सरकार को ही दिये गये थे और कुछ जनता को ताकि वह भी युद्ध विषयक ऋण पत्र (War Loans) खरीद सके और ये ऋण पत्र क्या थे? केवल कागज के टुकड़े, सरकार के उत्तरदायित्व के प्रतिनिधि जो बैंक के पास बैंक-ऋण की जमानत के रूप में जमा थे। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि जब एक अंग्रेज बैंकर उधार देता है तो यथासाध्य वह अपने पास कोई ऐसी मूल्यवान वस्तु रखना चाहता है जो उधार दी हुई रकम के संकट में पड़ने पर बेची जा सके। अब सरकारी प्रतिभूतियों से श्रेष्ठ कौन-सी जमानत वस्तु हो सकती है? यह सम्भव है (यद्यपि जो आँकड़े हमारे सामने हैं उनसे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता) कि इस अच्छी जमानत की प्रचुरता के कारण बैंकरों ने यह

१. इस सम्बन्ध में पाठक अध्याय ५ में दिये गये तर्कों पर विचार करें।

दबाव नहीं डाला कि रिज़र्व और निक्षेपों का अनुपात सही रहे (जैसा कि युद्ध के पूर्व वे किया करते थे) और भी एक कारण था जो उन्हें इसी दिशा में प्रोत्साहन देता था। सरकार को उन्होंने जो उधार दे रखा था उसका एक बहुत बड़ा अंश ऐसा रूप लेने लगा जिसे राजकोष हुंडियाँ (Treasury Bills) कहते हैं। इनका भुगतान कुछ महीनों बाद किया जाता है। अतः बैंकों के पास सदैव प्रतिभूतियों की बड़ी राशि रहती थी जिसके बल पर वे जब चाहें तब अपने रिज़र्व की वृद्धि के लिए सरकार को बाध्य कर सकते थे कि वह उन्हें बैंक आफ इंगलैंड के नाम चैक काट दे।

ब्रिटिश बैंकर के लिए हमारे हृदय में दुख के सिवाय और क्या हो सकता है? इस यूलिसिस को व्यावसायिक आवश्यकताओं की साइरैंस की आवाज का भय था। इस सहज भय के कारण उसने अपने आपको रिज़र्व-अनुपात के पाल से बाँध लिया और अपने कानों में अच्छी जमानत का मोम भर लिया। सहसा पाल आन्दोलित हो उठी और वह उन आवाजों की ओर खिचने लगी जिनका उसे भय था। मोम ने उन ध्वनियों को उसके कर्ण-कुहरों में प्रवेश करने से नहीं रोका। जिन वस्तुओं से उसकी अर्थ-सिद्धि हो सकती थी वे ही अब उसके पतन का कारण हो गयीं। मुद्रा की अत्यधिक सृष्टि से उसे भय था। अतः युद्ध छिड़ने पर उसने सरकार का साथ दिया और जब शान्ति के दिन आये तो मुद्रा की विपुल स्वार्थपरक सृष्टि में उसने व्यवसाय समुदाय का साथ दिया।

§३. **इंगलैंड में सामान्य मुद्रा की अभिवृद्धि** (The Expansion of Common Money in England)—यह प्रश्न किया जा सकता है कि ये बैंक किस प्रकार सुरक्षित रूप से मुद्रा की मात्रा में अभिवृद्धि कर सकते हैं? स्मरण रखना चाहिए कि अपने रिज़र्व के सम्बन्ध में ये कुछ स्वेच्छाचारी नियमों को भले ही मानते रहें, किन्तु उन नियमों के मूल में एक बात निश्चित है: बैंक-मुद्रा

परिवर्तनीय मुद्रा है और चूँकि इस देश के लोग अपना अधिकांश भुगतान सामान्य मुद्रा में करना पसन्द करते हैं, बैंक-मुद्रा का एक बहुत बड़ा भाग वस्तुतः परिवर्तन के लिए प्रस्तुत किया जाता है। जो लोग बैंकों से उधार लेते हैं या वे लोग जिनको इसका भुगतान किया जाता है, यही चाहते हैं कि वेअपनी अभिवृद्ध क्रय-शक्ति के द्वारा अधिक मजदूरों को काम पर लगा सकें अथवा अपने कर्मचारियों को अधिक काम करने के नाते अधिक मजदूरी दे सकें। इस कार्य के लिए उन्हें बैंकों से सामान्य मुद्रा की अधिक मात्रा लेना आवश्यक है और बैंकों को मालूम है कि सामान्य मुद्रा की अधिक मात्रा के लिए जो प्रार्थना की जाती है वह अन्त में अधिक ऋणों से ही उत्पन्न होती है।

इसके अतिरिक्त अभिवृद्ध ऋणों का प्रभाव प्रमुख वस्तुओं की थोक कीमत पर पड़ता है क्योंकि उन अभिवृद्ध ऋणों के कारण व्यवसायी वर्ग की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। किन्तु यह प्रभाव यहीं समाप्त नहीं होता। शीघ्र अथवा अशीघ्र साधारण वस्तुओं की फुटकर कीमत को भी ये ऋण प्रभावित करते हैं। आरम्भिक अवस्था में यह प्रभाव खरीदने वाले की क्रय-शक्ति को बढ़ाने में कम किन्तु बेचने वाले की विक्रय इच्छा को कम करने में अधिक व्यक्त होता है। एक उद्योगपति ने यदि सूत महंगा खरीदा है तो वह दर्जियों को सस्ते भाव कपड़ा बेचना पसन्द नहीं करेगा। जो व्यापारी बड़े पैमाने पर १ शिलिंग ६ पैंस प्रति पौंड के भाव पनीर खरीदता है, वह अपना वश चलते तो छोटे-मोटे दुकानदारों को पनीर १ शिलिंग ३ पेंस प्रति पौंड नहीं बेचना चाहेगा।

फुटकर भावों में इस प्रकार जो वृद्धि होती है उसके दो परिणाम होते हैं। एक तो यह कि जिनके पास चैक-बुक है उन्हें अपने साथ अधिक सामान्य मुद्रा रखनी पड़ती है—शायद उन्हें अपनी सम्पत्ति का काफी भाग सामान्य मुद्रा के रूप में रखना पड़ता है क्योंकि जो चीजें जैसे मोटरकार, उन्हें चैक के द्वारा खरीदनी पड़ती हैं वे तो खरीदनी

ही पड़ेंगी पर जितने कम चैक वे काम में ला सकें, उतना ही उनके लिए अच्छा। दूसरा परिणाम, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि मजदूर-वर्ग यह प्रयत्न करने लगता है कि निर्वाह-व्यय बढ़ जाने के कारण उनके वेतन में भी अभिवृद्धि हो। १९१७-२० के अन्दर तो यह प्रयत्न बहुत ही प्रभावशाली और सफल था जिसका फल यह हुआ कि मजदूरों को वेतन देने के लिए प्रति सप्ताह बहुत अधिक मात्रा में बैंकों से सामान्य मुद्रा लेना अनिवार्य हो गया।

इससे यह स्पष्ट है कि भले ही दुनिया में ब्रिटिश सेना अथवा ब्रिटिश व्यापार में कितनी ही श्रद्धा क्यों न हो, बैंक इस बात को नहीं भूल सकते कि अभिवृद्ध ऋणों का व्यावसायिक जनता पर, सामान्य मुद्रा के सम्बन्ध में, कितना प्रभाव पड़ता है। यदि बैंक इसे भूलना भी चाहें तो होने वाली घटनाएँ उनकी स्मृति को झंकृत कर देंगी। तो सामान्य मुद्रा की किस प्रकार पूर्ति की जाय ? जिस सीमा तक बैंक राजकोष हुंडियों के स्वामी हैं, उस सीमा तक वे सामान्य मुद्रा की अभिवृद्ध राशि को पाने का उत्तरदायित्व सरकार पर डाल सकते हैं। और जिस सीमा तक बैंक आफ इंगलैंड में स्थित उनकी चैकरी बढ़ती है, उस सीमा तक वे अपना उत्तरदायित्व बैंक आफ इंगलैंड पर डाल सकते हैं। अतः १९१७-२० में बैंक आफ इंगलैंड ने अपने रिज़र्व, जो पुराने ढंग की विधि-विहित मुद्रा थी, और निक्षेप के बीच अनुपात बनाए रखने में बड़ी उदारता दिखाई। किन्तु फिर भी यह उसका उत्तरदायित्व था कि बैंकों को जब और जितनी सामान्य मुद्रा चाहिए वह उन्हें दे और इस उत्तरदायित्व की उपेक्षा करना उसके लिए हितकर नहीं था। अतः सामान्य मुद्रा की अभिवृद्ध राशि को जुटाने का उत्तरदायित्व अन्त में सरकार पर ही पड़ा। कारण, केवल सरकार ही वांछित सामान्य मुद्रा उत्पन्न कर सकती है। स्थिति कुछ इस प्रकार थी कि यदि सरकार बैंक-व्यवस्था को आमूल नष्ट होने से बचाये रखना चाहती हो, यदि वह अपनी राजकोष हुंडियों का हित चाहती

हो, तो उसे सामान्य मुद्रा की इस राशि को उत्पन्न करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना पड़ेगा। जिसकी माँग किसी भी समय बैंक-व्यवस्था के द्वारा हो सकती है।

अतः हम एक तीसरे तरीके को ही यहाँ उपस्थित पाते हैं जिसके द्वारा ब्रिटेन कीं रूढ़िगत बैंक-व्यवस्था बदली हुई परिस्थितियों में सामान्य मुद्रा को अपरिमित राशि में उत्पन्न कर सकी। जिस व्यवस्था के द्वारा उन्हें आवश्यक सामान्य मुद्रा मिल सके वही व्यवस्था उनके लिए अच्छी थी। उससे मिश्रित पूँजी वाले बैंकों का काम भली प्रकार चल सकता था। जिस व्यवस्था से बैंक आफ इंगलैंड के उत्तरदायित्व का पालन हो सकता था, साथ ही अच्छी राशि में रिज़र्व बनाये रखे जा सकते थे, वह व्यवस्था बैंक आफ इंगलैंड के लिए पर्याप्त अच्छी थी।

जिस व्यवस्था के द्वारा कार्य-व्यापार का इतना सुन्दर संचालन हो सका, जिसके द्वारा ट्रेजरी नोट विपुल मात्रा में उत्पन्न हुए, वह इस बात पर प्रकाश डालती है कि किस प्रकार परिस्थिति के अनुसार बैंक आफ इंगलैंड में चेकरी रखी जा सकती है। ट्रेज़री नोट विभाग ने इसी नियम का पालन किया। अन्य लोगों ने भी इसी व्यवस्था के अनुकूल अपनी कार्य-सिद्धि की। जब किसी बैंक को अधिक संख्या में नोटों की आवश्यकता हुई तो उसने बेक आफ इंगलैंड के नाम चैक काट कर वह संख्या प्राप्त की। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंक आफ इंगलैंड में स्थित उनकी चेकरी कम हुई किन्तु उसी अनुपात में ट्रेजरी नोट विभाग में उसकी अभिवृद्धि हुई। यह अभिवृद्धि सरकार की सामान्य चेकरी को हस्तांतरित कर दी गयी—मानों सरकार के दाएँ हाथ नें बाएँ हाथ से वस्तु ग्रहण की और फलस्वरूप चेकरी में जो परिवर्द्धन हुआ उसका प्रयोग अपनी खरीदारी के लिए किया बाएँ हाथ को चेकरी की जगह भुगतान के वचन मिले।

युद्ध के दिनों में इंगलैंड में मूल्यों में वृद्धि हुई। ट्रेज़री नोटों ने इ

में क्या भाग लिया, इस सम्बन्ध में बहुत विवाद रहा है। ऊपर हमने जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि बैंक-नोटों में अभिवृद्धि होने से वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन आता है और यह जानकारी लोगों को थी। जब बैंक ऋण सामने आये, नोटों में अभिवृद्धि हुई तो उसका परिणाम यह हुआ कि लोगों की, विशेषतः साधारण श्रमिकों की, क्रयशक्ति को प्रोत्साहन मिला। इस निष्कर्ष का केवल ऐतिहासिक महत्व नहीं है, कारण, युद्धकालीन स्थितियां लम्बे चौड़े पैमाने पर यही बात बताती हैं कि किस तरह सामान्य दिनों में बैंक-मुद्रा और सामान्य मुद्रा एक ऐंग्लोसैक्सन देश में मूल्य स्तर को प्रभावित करती है।

§४. **मुद्रा की पूर्ति और मांग की अवस्थाओं की क्रियाएं प्रतिक्रियाएं** (The Inter-reactions of the conditions of demand for and supply of Money)—मुद्रा-पूर्ति में जब इस तेज गति से वृद्धि होने लगे और फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य ऊंचे चढ़ने लगें तथा और ऊंचे चढ़ने की उम्मीद हो तो कुछ विचित्र बातें सामने आती हैं। उनकी ओर ध्यान जाना स्वभाविक है।

पहली बात तो यह है कि यह स्थिति उन लोगों के लिए लाभ-दायक होती है जिनके हाथ में व्यापार का नियंत्रण है। अतः वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है. जिसका एक परिणाम यह होता है कि मूल्यों की वृद्धि पर कुछ अंकुश आ जाता है। युद्ध के दिनों में इस प्रवृत्ति को दबे रहना पड़ा क्योंकि कितने ही कारण थे जो वस्तुओं का उत्पादन वश में रखना चाहते थे। इसी एक कारण से मूल्यों की वृद्धि मुद्रा पूर्ति की अभिवृद्धि से आगे बढ़ जाती है।

एक ऐसा और भी महत्वपूर्ण तरीका है जिसके अनुसार मुद्रापूर्ति में होने वाली वृद्धि मुद्रा की मांग और तत्सम्बन्धी अवस्थाओं को प्रभावित करती है (अध्याय २)। जैसे-जैसे नयी मुद्रा प्रचलन में आती है वैसे-वैसे जनता अपनी मुद्रा राशि को बढ़ती हुई देखती है; जनता

प्रायः वास्तविक वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा की विधा (terms) में नाप जोख किया करती है, अतः वह अपनी मुद्रा-राशि को शीघ्रातिशीघ्र खर्च कर अपने सामान्य मुद्रा-स्तर पर पहुँच जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा-चलन में अत्यन्त द्रुत गति आ जाती है। आगे चल कर बहुत से लोग अब इस सम्बन्ध में विचार करते हैं तो वे यह सोचते हैं—विशेषकर वे लोग जिनकी आय प्रायः स्थिर होती है और मूल्यों की वृद्धि से जिन्हें काफी हानि उठानी पड़ती है—कि उन्होंने शायद मुद्रा के रूप में अपनी वास्तविक आय के एक अनावश्यक बड़े अनुपात को नियंत्रण में रख छोड़ा था, और क्या वे इतनी सावधानी न रख कर अपने कई अभावों की पूर्ति नहीं कर सकते। अतः मुद्रा का चलन वेग जो आरम्भ में विवेकशून्य था, अब विवेकपूर्ण हो जाता है। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि यदि मुद्रा-पूर्ति में वृद्धि बहुत अधिक मात्रा में होती है तो जनता मुद्रा के अन्दर ही अपना विश्वास खो बैठती है। मुद्रा का प्रयोग तो जनता को करना ही पड़ता है, कारण और कोई दूसरी मुद्रा होती नहीं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति शीघ्र से शीघ्र मुद्रा का प्रयोग कर लेना चाहता है, क्योंकि जितनी देर मुद्रा उसके पास रहेगी उतनी ही उसकी कीमत नीचे गिरती जायगी। तब क्यों नहीं वह बुद्धिमानी और चतुराई से काम ले। मुद्रा के स्थान पर अन्य साधनों को जुटाले? यदि वह एक उद्योगपति है तो वह मुद्रा को ईंट, चूना, मशीन में परिवर्तित कर लेगा। इसीलिए तो जर्मनी में १९२२-२३ में ऐसी विरोधात्मक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि जहाँ साधारण जनता मुद्रा के मूल्य में सांघातिक कमी आ जाने के कारण भूख और नैराश्य का सामना कर रही थी, वहाँ उद्योगधंधे के नाथ वृहद् विशाल औद्योगिक उपकरणों को जुटाने में लगे हुए थे। साधारण व्यक्ति को तो तस्वीरों, आभूषणों, वस्त्रों, रसोई के बर्तनों से ही सन्तोष लेना पड़ता है। वह उन वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है जो कुछ समय टिक सकें और

यह वस्तु मुद्रा हो नहीं सकती।

अतः मुद्रा परिचलन में भीषण गति आ जाती है और मुद्रा की परिमाण-वृद्धि के सारे अनुपातों को तोड़ कर वस्तुओं के मूल्य ऊँचे चढ़ने लगते हैं। मूल्य जितने ऊँचे चढ़ने लगते, सरकार को उतनी ही अधिक मुद्रा की आवश्यकता होने लगती है। करों के द्वारा इसकी पूर्ति नहीं हो सकती—कर भी वे जो मुद्रा के कुछ पूर्व सप्ताहों के पूर्व मूल्य पर निश्चय किये हुए थे! कुछ सप्ताह बाद मुद्रा का मूल्य बदल गए, कर उसी प्रकार रहे। अतः मुद्रा के सृजन को नवीन प्रोत्साहन मिलता है। यही तथ्य कि माँग गिर गई है उसकी पूर्ति में अभिवृद्धि करता है। यह एक विचित्र किन्तु अत्यन्त स्वाभाविक विरोधाभास है मेघ घोष और बिजली—मूल्य स्तर और मुद्रा पूर्ति—एक दूसरे का पीछा करते हैं; श्वेत रानी की कहानी में उल्लिखित घटनाओं का चक्र चलता है और कोई नहीं जानता कि इस पीछा-पीछी का क्या अन्त होगा!

और इसी बात से एक दूसरी समस्या खड़ी हो जाती है। संभावना सदैव यथार्थ से आगे दौड़ती है। जहाँ मुद्रा का आय-मूल्य तेजी से गिरता है वहाँ उसका विनिमय-मूल्य और भी अधिक तेजी से नीचे जाने लगता है। पूंजीगत समाज, कच्चा माल और उत्पाद्य वस्तुएँ थोक व्यापारियों के हाथ उन मूल्यों के हिसाब बिकने लगती हैं जो कुछ सप्ताह बाद फुटकर कीमत पर साधारण लोग खरीदना चाहेंगे। अतः प्रत्येक व्यापारी जो उत्पादन और विक्रय के तारतम्य में एक कड़ी है यही सोचता है कि फुटकर मूल्यों में संभावित वृद्धि को वह प्रभावित कर सके और मुद्रा के सृजन में कोई रुकावट खड़ी न हो जाय।

§५. **विदेशी विनिमयों का दुर्व्यवहार** (The misbehaviour of the Foreign Exchanges)—एक और भी कारण है कि वस्तु-उपादानों के मूल्य तैयार माल और सेवाओं की मूल्य-वृद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपात से बढ़ जाते हैं—यह कारण विदेशी

विनिमयों से सम्बद्ध है। अध्याय ४, खंड ३ में हमने उन कारणों क विवेचन किया था ओ अपेक्षाकृत स्थिर अवस्थाओं में विदेशी मुद्रा क मूल्य निर्धारित करते हैं, किन्तु हमें यह कभी भी विस्मृत नहीं करन चाहिए कि जैसे अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में (अध्याय २) वैसे ह विदेशी मुद्रा के सम्बन्ध में मूल्य-निर्धारण का एक दम निकटतम कार खरीदार की खरीदने की इच्छा और बेचने वाले की बेचने की इच्छ है। अब यदि एक देश में मुद्रा-पूर्ति में वृद्धि द्रुत गति से होने लगे त जिस प्रकार एक मोटे दिमाग का आदमी मुद्रा के भविष्य में अपन विश्वास खोने लगता है, उसी प्रकार एक समझदार और सुशिक्षि आदमी (जो विदेशी मुद्रा के लेने में लगा होता है) उस मुद्रा व सम्बन्ध में सजग-सा होने लगता है। ऐसे लोग विदेशी मुद्रा के खरीदने में तो काफी दिलचस्पी लेने लगते हैं किन्तु अपने देश क मुद्रा को वेचने में दत्तचित रहते हैं। साधारण लोग जो इन बारीकिय को थोड़ा बहुत जानते हैं यह अनुभव करने लगते हैं कि उनके दे में क्या हो रहा है, और वे अपनी बचाई हुई पूँजी विदेश भेजन चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे विनियम-बाजार म विदेशी मुद्रा के खरीदार के रूप में उपस्थित होने लगते हैं और यदि सरकार को अपनी देश की जनता की भूख अथवा क्रांति से बचने क लिए बाहर से माल मंगाना पड़ा तो उसका हिसाब उसे विदेशी विनिमय के द्वारा चुकाना पड़ता है। अथवा यदि सरकार को विदेशी राज्य की मांग की पूर्ति करनी पड़े तो भी उसे विदेशी विनिमय का सहारा लेना पड़ता है । युद्धोतर दिनों में जर्मनी को इन दोनों ही स्थितियों का सामना करना पड़ा था। इस प्रकार विदेशी मुद्रा का मूल्य आन्त-रिक वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य-अनुपात से कहीं अधिक बढ़ जाता है। वास्तव में सैद्धान्तिक दृष्टि से तो इस अभिवृद्धि की कमी की कोई सीमा नहीं है। उदाहरण के लिए हम अपने पुराने प्रतीकों को लें। यूटोपिया के लोगों को अपने ऋण-शोध के लिए किसी सप्ताह

इंग्लैंड में दस लाख पौंड के पावने खड़े करने आवश्यक हैं। मान लीजिए कि यूटोपियन वस्तुओं के इंग्लैंड में विक्रय से यूटोपिया को तीन-चतुर्थ मिलियन पौंड के पावने उपलब्ध होते हैं जिन्हें यूटोपिया में बेचा जा सकता है। इन तीन-चतुर्थ मिलियन पौंड को प्राप्त करने के लिये स्पर्धा होगी, उससे पौंड के मूल्य में वृद्धि होगी किन्तु यूटोपिया वाले तीन चतुर्थ मिलियन पौंड के लिए कितने ही यूटोप क्यों न खर्च करें, उन्हें अपने भुगतान के लिए, अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए, अभी भी एक-चतुर्थ मिलियन पौंड की कमी बनी रहेगी।

एक साधन का उपयोग वे अवश्य कर सकते हैं और वह भी कुछ काल के लिए ही। वे ऐसे अंग्रेजों को ढूंढ़े जो इतने मूर्ख हों कि यूटोपियन सामान्य मुद्रा को इस आशा से सचमुच खरीदने लगें कि निकट भविष्य में उसके मूल्य में फिर वृद्धि होगी। मुद्रा-ह्रास के आरम्भिक दिनों में ऐसा होना असम्भव नहीं है; जर्मनी ने १९१९-२० में इसी प्रकार आचरण किया था किन्तु कुछ समय बाद लोगों की उम्मीदें बैठने लगती हैं और पलड़ा दूसरी ओर झुक जाता है। जब यह साधन लोगों के सामने उपस्थित होता है तब भी संतुलन उसी समय आता है जबकि कोई ऐसा मूल्य तो हो जिसके आधार पर पौंडों के मालिक अपने पौंडों को यूटोप के बदले बेच सकें। अन्यथा या तो यूटोपियन्स पौंडों का ऋण लें, यदि कोई उन्हें ऋण देने के लिए तैयार हो या अपना दिवाला पीट दें। अतः जब कुछ देशों की विनिमय दर गिर रही हो तो इसका यह अर्थ नहीं होता (जैसा कि उन देशों में पहले सोच लिया जाता था) कि वे अपने गिरते हुए विनिमय के द्वारा भाग्य के साथ संधि करलें और मनमाना खर्च करते रहें—एक ऐसा इन्द्रजालिक तरीका निकाल लें कि बिना ऋण लिए अपार खर्च करते जाएं।

§६. **आंतरिक और बाह्य मुद्रा स्तरों में दूरी** (The Divergence between Internal and External Price-levels)—अब प्रश्न यह है कि विनिमय के द्वारा वस्तुओं के मूल्य किस

प्रकार प्रभावित होते हैं । विदेशों से प्राप्त हुए माल, की कीमत विदेशी मुद्रा के मूल्य से सीधी सम्बद्ध है, यह इस बात का प्रतीक है कि जो चतुर सुजान विदेशी विनिमय में लेन-देन करते हैं उनकी अपने देश की मुद्रा के भविष्य में कितनी आस्था है, उन साधारण लोगों की वात नहीं करते जो विदेशी विनिमय से सम्बद्ध नहीं होते। यही आयात—वस्तुएं प्रधान रूप में भोजन और कच्चे माल से सम्बन्धित होती हैं, तो देश की अपनी उत्पाद्य वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य आज्ञाकारी चरों की तरह आयात वस्तुओं के मूल्य का पीछा करते हैं । उत्पादन की मुद्रा-लागत और जीवन-स्तर के खर्च बढ़ जाते हैं और जिन लोगों को इन अभिवृद्ध मूल्यों से कष्ट सहना पड़ता है वे सरकार एवं बैंकों पर दबाव डालते हैं कि मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि में शीघ्रता दिखावें किन्तु मुद्रा के बाह्य तथा आन्तिरिक मूल्यों के बीच की दूरी उस समय तक प्रायः बनी रहती है जब तक कि वह अन्तिम अवस्था में न आ जाय जैसा कि आस्ट्रेलिया और जर्मनी में हुआ था जिसमें देश के निवासी अपनी मुद्रा से हतप्रभ और निराश हो अपना कार्य व्यापार, यहाँ तक कि दिन प्रतिदिन के फुटकर व्यापार भी, किसी अपेक्षाकृत स्थिर विदेशी मुद्रा में न करने लग जायें ।

किन्तु यह सब कैसे हो सकता है ?—पाठक प्रश्न कर सकता है । अध्याय ४, खण्ड ३ में क्या हमने यह नहीं देखा है कि जब विदेशी मुद्रा और आयातों के मूल्य इस प्रकार स्वेच्छाचारिता दिखाने लगते हैं तो आयात बन्द होने लगते हैं और निर्यात को प्रोत्साहन मिलने लगता है ? यह तब तक होता रहता है जब तक कि विदेशी मुद्रा के और आयतों के मूल्य पुनः स्थिर न हो जायं । अन्य देशों की उपलब्ध मुद्रा-पूर्ति की तुलना में तथाकथित देश की उपलब्ध मुद्रा-पूर्ति कितनी है, यह तथ्य इन मूल्यों के निर्धारण में काफी प्रभाव रखता है (अध्याय ४)। सामान्य परिस्थिति में तो यह सब ठीक है किन्तु जिन अवस्थाओं पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं वे दो बातों में असामान्य हैं । एक तो यह कि

निर्यात को अपनी पूरी मात्रा में प्रोत्साहन देना बहुत अधिक सुविधा-जनक हो सकता है। क्योंकि ऐसा करने का अर्थ तो यह हुआ कि अपनी स्वार्थ-साधना के लिए देश को भूखा नंगा बना दिया जाय—उन खाद्य पदार्थों, कच्चे माल और औद्योगिक उपकरणों को, जिन पर राष्ट्रीय जीवन आश्रित है, देश से निष्कासित कर दिया जाय। उदाहरण के लिए जर्मनी को लें। जर्मन सरकार को बाध्य होकर निर्यात की कुछ विशेष वस्तुओं पर कठोर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा था जिससे कि जर्मनी की नीलामी रुक सके। मार्क (जर्मन मुद्रा) के वाह्य मूल्य को गिरने से रोकने के लिए जो शक्तिशाली वर्ग वहाँ काम कर रहा था उसे उखाड़ फेंकने के लिए जर्मनी ने प्रयत्न किया और अपनी नीति के समर्थन के लिए उसके पास, उसके अनुसार, कई अच्छे कारण थे।

दूसरे, अध्याय ४, खण्ड ३ में हम उन अवस्थाओं पर विचार कर चुके हैं जिनकी उपस्थिति में मुद्रा पूर्ति करने वाले, स्वर्ण मान से न बंधकर स्वतन्त्र आचरण करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु जिन अवस्थाओं पर यहाँ विचार किया जा रहा है उनमें खिचाव है जिससे कि विदेशी मुद्रा और आयातों के मूल्यों के जरा से स्पन्दन से वे गतिशील हो उठती हैं। इस प्रकार देश की क्रय-शक्ति, आयातों और अपनी उत्पाद्य वस्तुओं, दोनों की खरीद में ऊपर चढ़ने लगती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि आयात और निर्यात का संतुलित प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। इन अवस्थाओं मेंविनियम दर को जो व्यापार की वस्तुओं के सम्बद्ध मूल्यों को प्रकट करती है, सामान्य (normal) दर कहना वास्तव में भ्रामक है (अध्याय ४) क्योंकि दर देश की मुद्रा-पूर्ति की सामयिक अवस्था को व्यक्त नहीं करती (अ० ४) जो भी हो, इन अवस्थाओं में भी विनिमय की वास्तविक दर देश की मुद्रा-सत्ता की संभावित गतिविधि से नियमित होती है और यदि वह मुद्रा-सत्ता संभावित गतिविधि को नहीं अपनाती तो दर में आखिर परिवर्तन आता ही है। किन्तु इसी बीच बिजली और मेघ घोष के अतिरिक्त, अर्थात् मुद्रा-पूर्ति

और आंतरिक मूल्य स्तर के अतिरिक्त, एक तीसरी वस्तु भी आ खड़ी होती है, विनिमयों और बाह्य मूल्य-स्तर के संघर्षण। हम इसी पहेली में पड़ जाते हैं कि इस संघर्षण को कारण-कार्य के तारतम्य में कहाँ निर्देशित किया जाय।

२. मुद्रा की पुनः स्थापना

(Monetary Restoration)

"हाँ, मैं इसे खाऊँगी" एलिस बोली, "और यदि मैं इससे बड़ी हो जाती हूँ तो मेरा हाथ कुंजी तक पहुँच जायगा, और यदि इससे मैं छोटी हो गई तो भी ठीक, मैं दरवाजे के नीचे से रेंग जाऊँगी। किसी भी तरह मैं बाग में पहुँच ही जाऊँगी, और इसकी मुझे परवाह है नहीं कि मैं छोटी होती हूँ या बड़ी।"

—एलिसेज' एडवेंचर्स इन वंडरलैंड

§७. **विनिमयों का नियमन** (The Pinning of the Exchanges)—इस प्रकार की परिस्थितियाँ छोटे बड़े पैमाने पर बहुत से देशों में युद्ध के बाद पैदा हुईं। अन्त में, इससे पूर्व कि अवस्था एक दम ही बिगड़ जाय, कुछ बुद्धिमान और उदारमना व्यक्ति इस सम्बन्ध में विचार विमर्श के लिए १९२० में ब्रसेल्स में एकत्र हुए। इनमें बहुत से व्यक्ति अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के मर्मज्ञ थे और उन्हें मालूम था कि यावत् परिस्थिति इस प्रकार की भले ही हो अन्त में तो मूल्य स्तर और विनिमयों की स्थिरता के लिए देश में मुद्रा स्थिति का सहज होना आवश्यक है। उन्हें मालूम था कि संसार की मुद्रा-स्थिति खराब इसलिए है कि विभिन्न देशों की सरकारें अपनी प्रजा तथा एक दूसरे पर अमर्यादित रूप में दबाव डाल रही हैं। राष्ट्रों के पारस्परिक दबाव के सम्बन्ध में तो उन्होंने सम्मेलन में चर्चा नहीं की, किन्तु जहां तक उनके आंतरिक सम्बन्धों की बात थी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि राष्ट्रों को अपना खर्च घटाना चाहिए और अपना

बजट नियमित करना चाहिए। जहाँ तक परामर्श की बात है, यह परामर्श औचित्यपूर्ण था, पर डूबते हुए लोगों को इससे कहाँ तक सहारा मिलता।

इस तरह धाँधलबाजी चलती रही। अन्त में लोगों ने अनुभव किया कि यदि सांप का सिर कुचला जा सका तो उसकी पूँछ तो कस कर पकडे रहना भी अर्थपूर्ण है। यदि येन केन प्रकारेण मुद्रा के वाह्य मूल्य की ओर आगे अधोगति रोकी जा सके, तो लोगों को सांस लेने का अवकाश मिल सकता है। इस अवकाश का दो में एक तरह उपयोग किया जा सकता है। या तो आंतरिक मूल्य-स्तर को वाह्य मूल्य-स्तर के बराबर उठने का अवकाश दिया जाय (इस अवकाश-अवधि में सरकार थोड़ा-सा पाप भले ही और करले) अथवा आंतरिक मूल्य-स्तर को उसी स्तर पर स्थिर करने का प्रयत्न किया जाय, इस आशा में कि विनिमय मंडी को यह आश्वासन हो कि मूल्य-स्तर की दिशा में कुछ प्रयत्न किये जा रहे हैं। इससे विनिमय मंडी उस देश की मुद्रा के सम्बन्ध में अपनी नीति में संशोधन करेगी जिसका परिणाम यह होगा कि विदेशी मुद्रा का मूल्य पहले की अपेक्षा कुछ नीचे स्तर पर कालांतर में स्थिर हो जायगा। इन विकल्पों के परिणामों पर आगे विवेचन किया जायगा किन्तु किसी भी विकल्प का प्रयोग क्यों न किया जाय, या इन विकल्पों में समझौता कर कोई भी तरीका क्यों न प्रयोग में लाया जाय, एक परिस्थिति शेष रह जाती है जो सन्मार्ग की ओर संकेत कर सकती है। भले ही गलत कोने से उस मार्ग पर लगें, उस पर चलना उतना दुरूह नहीं है, जितना समझा जाता है। एक बार लोगों में मुद्रा के प्रति आस्था फिर से उत्पन्न की जा सके, मुद्रा के चलन-वेग में अवरोध पैदा हो (अध्याय ६) तो लोग मुद्रा के रूप में ही उपकरणों को पाने की आकांक्षा रखेंगे—इसी आकांक्षा को प्रबल प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार सरकार सेंट आगस्टाइन की प्रार्थना को दुहरा सकती है : "मुझे पवित्र बना, किन्तु अभी नहीं।" उसकी

आवाज के सुने जाने की संभावना है। कुछ समय तक आंतरिक मूल्य-स्तरों में विशेष खिंचाव पैदा किये बिना वह अपने अत्यावश्यक उत्तर-दायित्वों के पालन के लिए मुद्रा पूर्ति में वृद्धि कर सकती है।

§८. **स्थायीकरण की यंत्र-विधि** (The Machinery of Stabilisation)—इस मार्ग का अनुसरण करने के लिए विदेशी मुद्रा की उपलब्धि आवश्यक है, क्योंकि उसे ऐच्छिक दर पर बेच कर सरकार यह प्रदर्शित कर सकती है कि उसकी मुद्रा-स्थिति अस्त-व्यस्त नहीं है। आस्ट्रिया ने १९२२ में सर्वप्रथम इस मार्ग को अपनाया, उसे विदेशी मुद्रा विदेशी राष्ट्रों के ऋणों से प्राप्त हुई—इन ऋणों का प्रबन्ध राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने किया। इसी एक स्तुत्य कार्य के लिए राष्ट्र संघ विश्व की कृतज्ञता को सदैव पा सकता है। अन्य राष्ट्रों ने भी आगे चलकर इसी संघ की शरण ली। उदाहरण के लिए हंगरी को लिया जा सकता है। किन्तु कुछ राष्ट्र बेल्जियम जैसे भी थे जो बिना किसी बाह्य संस्था की सहायता के विदेशी ऋण एकत्र कर सके। फ्रांस जैसे कुछ राष्ट्रों ने विदेशों के पूंजी प्रदान करने वाले वर्गों के साथ अपने स्वतन्त्र समझौते कर लिये। इस अवस्था में भी राष्ट्रों को, विशेषकर फ्रांस को, सन्मार्ग पर चलना सहज लगा। उन्हें यह आशा न थी कि मार्ग इतना सहज होगा। क्योंकि कुछ सीमा तक लोगों में अपने देश की मुद्रा के प्रति आस्था लौट आयी, उन्होंने अपनी संचित राशि को, जिसे उन्होंने विदेशों में जमा करा दिया था, अपने देश को हस्तांतरित करने में विशेष असमंजस नहीं प्रकट किया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश को अन्य राष्ट्रों में अपनी मुद्रा राशि संचित करने में सहायता मिली। जर्मनी मे विदेशी मुद्रा डाज योजना (Dawes Plan 1924) के अन्तर्गत एकत्र की जा सकी। युद्ध-संहार के कारण जर्मनी को जिस क्षतिपूर्ति का उत्तारदायित्व लेना पड़ा था उससे उसकी विनिमय मंडी पर काफी प्रभाव पड़ा था—डाज योजना ने इस दबाव को भी नियमित करने का प्रयत्न किया किन्तु

अवधि के नौ मास पूर्व ही जर्मनी ने सांप को उसके मध्य भाग में कुचल डाला—उसने एक ऐसी सफल योजना का प्रयोग किया जो इतिहास और सिद्धान्तों की शिक्षाओं में अभूतपूर्व थी। उसने एक नयी मुद्रा का ही परिचलन कर डाला। यह मुद्रा जर्मनी की कुल जमीन और स्थावर सम्पत्ति पर "आधारित" थी। ("आधारित" शब्द में कितना अस्पष्ट आशीर्वाद है!) इस सम्पत्ति की आय में अपना भाग पाने के लिए उस मुद्रा को कागजी पावने (paper claims) का रुप दिया जा सकता था। यह योजना बाहर से देखने में मूर्खतापूर्ण थी, लेकिन उसमें बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव था, विशेषकर कृषक समुदाय के लिए, किन्तु तब भी इसे कार्यान्वित तभी किया गया जबकि रेंटेनमार्क्स की पूर्ति पर अधिकारी वर्ग ने प्रबल नियंत्रण स्थापित कर लिया। केवल रूस ने अंत तक विदेशी सहायता स्वीकार नहीं की। विदेशी व्यापार पर रूसी सरकार का एकाधिकार था। उस एकाधिकार को सतर्क रूप से बनाए रख कर वहां की सरकार विदेशी मुद्रा की अपनी राशि बना सकी। एक वर्ष तक उसने एक वास्तविक द्विमान (double standard) बनाए रखा और इस प्रकार उसने अपनी मुद्रा समस्या का निदान किया। एक नवीन मुद्रा, चारवोनेज (Chervonetz) जिसका बाह्य मूल्य स्थिर रखा गया, वहाँ के स्टेट बैंक ने चलायी, इसके अतिरिक्त ट्रेजरी ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पुराने रूबल (Rouble) की वृद्धि करके की। एक वर्ष तक (१९२३) दोनों मुद्राएं साथ साथ चलती रहीं, उनकी पारस्परिक विनिमय दर समय समय पर बदलती रही।

जिस विदेशी मुद्रा के मूल्य को स्थिर माना गया वह एक तरह से डालर थी। डालर ने इस सारे समय स्वर्ण की विधा में अपना पूर्ववत् मूल्य बनाए रखा। इसका परिणाम हुआ स्वर्ण-मान की पुनः स्थापना। अतः जब उस मूल्य को निर्धारित कर दिया गया जिस पर डालर मिलना चाहिए था, तब केवल इतना काम शेष रह गया कि स्वर्ण का

वह वजन निश्चित कर लिया जाय जिसका मूल्य मुद्रा के बराबर हो। बहुत सी जगह तो यह निश्चय शीघ्र कर लिया गया, यद्यपि फ्रांस में काफी देर लगी। फ्रांस की देर का कारण यह था कि श्री प्वाइनकेर को तीन वर्ष और शासन-सूत्र संभालने की सुविधा मिल सके। यह बात १९२८ की है। मूल्य के पुर्ननिधारण का तरीका अलग अलग देशों ने अलग अलग अपनाया। कहीं कहीं एक नवीन मौद्रिक इकाई का ही आविष्कार करना पड़ा--यूरोपियन अजायब घर में नये जन्तु आ गये—उदाहरण के लिए पोलिश ज्लानी और हंगेरियन पेंगो—ऐसे जन्तु जो हमारे पूर्वजों के लिए अपरिचित थे। कुछ देशों में (जैसे फ्रांस और इटली में) पुरानी इकाई को अक्षुण्ण रखा गया, किन्तु स्वर्ण का वजन जिसके मूल्य के साथ इस इकाई का मूल्य बरावर होना चाहिए था, फिर से निश्चित किया गया। फ्रांस के सम्बन्ध में यह वजन पहले से लगभग $\frac{1}{5}$ और इटली के सम्बन्ध में पहले से लगभग $\frac{1}{4}$ पर निश्चित किया गया किन्तु रूबल और मार्क का मूल्य पूर्ववत् ही स्थिर रहा, उनके सम्बन्ध में स्वर्ण के वजन को नहीं घटाया गया। विनिमय के आंकड़ों में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जो हमें इस भयानक सत्य की स्मृति दिलाए कि एक दिन फरवरी १९२४ में एक नये रूबल को पचास हजार मिलियन युद्धपूर्व रूबल के विनिमय के योग्य माना गया, और उसी वर्ष अगस्त में एक दिन एक नवीन रीख्समार्क (Reichsmark) कई हजार मिलियन युद्धपूर्व मार्क के बराबर माना गया।

इस नये तरीके से राष्ट्रीय सरकारों को अपने बजट नियमित करने में मदद मिली। यह काम उन्हें असम्भव नहीं नजर आया किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बजट ठीक करने का कार्य सिद्ध हो गया था। यद्यपि जैनेवा की परी (राष्ट्र संघ) ने कुछ विदेशी मुद्रा से राष्ट्रों की सहायता की किन्तु उसने एक अप्रिय वृद्धा की भाँति (परियाँ हमारे हित में यह रूप धारण कर सकती हैं) यह हस्तक्षेप भी किया कि हमारी आर्थिक स्थिति को सुधारा जाय और वित्त-संतुलन पुनः

स्थापित किया जाय। अन्य सरकारों ने अपनी पीठ पर अपने आप पश्चाताप के चाबुक लगाए। दोनों ही अवस्थाओं में बहुत से योग्य पदाधिकारियों को अनुचित कष्ट सहना पड़ा – ऐसा कष्ट कि उन्हें अपने पदों से भी हाथ धोना पड़ा—उन पदों से जिनके वे अभिन्न अंग बन चुके थे। और भी एक अनिवार्य कार्य करना शेष था। बहुत से राष्ट्रों के ऋण काफी मात्रा में अल्पकालीन देय के रूप में थे। इंगलैंड के ट्रेजरी बिलों की तरह वे बार-बार भुगतान के लिए सामने आते थे। जब तक यह अवस्था रहे तब तक मुद्रा-व्यवस्था को किसी भी समय उनका भुगतान करना आवश्यक था। अतः यह आवश्यक हो गया कि या तो सदा के लिए एक बार उन्हें चुका दिया जाय या लोगों को इस वचन में आस्था रखने के लिए मनाया जाय कि आगे चल कर उनका भुगतान कर दिया जायगा। इटली में इस आश्वासन ने एक बड़ा ही सरल रूप लिया—सरकार ने यह घोषणा कर दी कि वांछित विनिमय कर लिया गया है। बेल्जियम ने मुसोलिनी के प्रभाव को उखाड़ फेंकने के लिए लोगों के सामने यह सुझाव रखा कि या तो वे सरकार की सुविधानुसार भविष्य में अपना भुगतान करा लें, या सरकार ने जिस नयी स्टेट रेलवे कम्पनी की स्थापना की है उसके हिस्से खरीद लें। फ्रांस ने अपने ही विश्रृंखल—अर्थात् स्वेच्छाजनक परिवर्तन और हानिपूर्ति की रसीदों तथा कर प्राप्ति की रकम से भुगतान करने के तरीके अपनाये।

§९. **उद्योग धंधों पर स्थायीकरण का प्रभाव** (The Effects of Stabilisation on Industry)–इन विधियों में विभिन्नता थी किन्तु इनसे भी प्रमुख विभिन्नताएँ उन उत्तरों में थीं जो इस मूलभूत प्रश्न के लिए दिये गये थे। प्रश्न था कि यह पुनः स्थापन उस विनिमय दर पर किया जाय जो अंत में हमारे सामने उपस्थित हुई है अथवा उस दर पर जो अधिक ईमानदारी के साथ मुद्रा के आंतरिक मूल्य को प्रकट करती हो। यह आन्तरिक मूल्य नैतिक दृष्टि से कम पतित होता

है। इस उत्तर का देश तथा विदेश की व्यावसायिक परिस्थितियों पर काफी प्रभाव पड़ता है। जब तक किसी देश में विदेशी मुद्रा का मूल्य आन्तरिक वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य से अधिक बढ़ता रहता है तब तक उन लोगों को प्रोत्साहन मिलता है जिनके हाथ में निर्यात वस्तुओं का अधिकार है। इसका कारण यह है कि उत्पादन की लागत उस तेजी से नहीं बढ़ती जिस तेजी से विदेशी मुद्रा का विक्रय लाभ जो उन्हें अपनी वस्तुओं के भुगतान में बाहर से मिलता है। इस प्रकार वे अपनी वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ा सकते हैं जहाँ तक कि उनका सम्बन्ध देश की मुद्रा से है और जहाँ विदेशी मुद्रा की बात आती है वहाँ वे अन्य स्पर्धा में अपने माल को सस्ता बेचने लगते हैं। यदि यह निश्चय किया जाय कि मुद्रा का मूल्य उसके नीचे के स्तर (बाह्य) पर स्थिर हो तो यह कृत्रिम लाभ केवल धीरे धीरे ही लुप्त होता है। इस स्थिति में देश के वे उद्योग धंधे जो आन्तरिक मांगों की पूर्ति करते हैं देश के अन्दर की मूल्य-वृद्धि से प्रोत्साहन पाते हैं। इसके विपरीत, यदि मुद्रा के मूल्य को उसके ऊँचे स्तर (आन्तरिक) पर स्थिर करने का निश्चय किया जाय तो निर्यात-व्यवसाय से जो कृत्रिम लाभ होता है वह एक झटके से समाप्त हो जाता है। इससे अन्य देशों के प्रतियोगियों को बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। जहाँ तक देश के आंतरिक उद्योग धंधों की बात है यह कहा जा सकता है कि उद्योगपतियों के अतिरिक्त जो आंतरिक मूल्यों की और अधिक वृद्धि के स्वप्न देख रहे थे, अन्य लोगों को विशेष हानि लाभ नहीं होता। इनमें से पहली नीति, जो उथल पुथल करती है, बेल्जियम ने १९२६ में अपनायी। दूसरी नीति फ्रांस के द्वारा अपनायी गयी। फ्रांस में जनमत ने उस भयावह स्थिति को अपनाने से इन्कार कर दिया जो फ्रैंक के सामने १९२६ के ग्रीष्म में विनिमय मंडी में उपस्थित हुई थी। फ्रांस ने यह दूसरी नीति इस लिए चुनी कि वहाँ उन लोगों के हितों का ध्यान रखना आवश्यक था जिन्होंने सरकार को ऋण दे रखा था। फ्रांस में यह वर्ग काफी बड़ा

और महत्वपूर्ण रहा है। ऐसे लोगों को, जैसा कि हम देख चुके हैं, (अध्याय १) आंतरिक मूल्य स्तर के बढ़ने से हानि होती है। प्रत्येक देश में एक ओर तो ऐसे लोगों के हितों की रक्षा कुछ दूर तक की गयी और कुछ दूर तक वे प्रतिबन्ध ढीले किये गये जो सरकार ने मौद्रिक सुधार एवं औद्योगिक विकास पर लगा रखे थे। जर्मनी में सरकार को ऋण देने वाले बरबाद हो गये, उनकी अवहेलना की गयी, यद्यपि यह आगे चल कर यह प्रयत्न किया गया कि आश्वासन के रूप में उनकी थोड़ी-बहुत क्षतिपूर्ति की जाय। यह भय था कि इटली में भी ऐसे लोगों की यही गति होगी किन्तु वहाँ उनकी अवस्था इतनी बुरी नहीं रही क्योंकि मुसोलिनी को इसमें संतोष नहीं था कि लीरा अपने ऊंचे स्तर के आंतरिक मूल्य पर स्थिर रहे। अतः लीरा के मूल्य को ऊपर खींचने के लिए उसने मुद्रापूर्ति में तीव्र और कष्टदायक ह्रास कर दिया। अन्त में (१९२७) वह मूल्य स्वर्ण के साथ सम्बद्ध हुआ।

प्रत्येक देश के सामने मुद्रा-मूल्य के ऊँचे अथवा नीचे स्तर को चुनने का ऐसा प्रश्न नहीं था जैसा इस विवेचन से प्रकट होता है। यद्यपि नियमानुसार (खंड ५) देश की मुद्रा का वाह्य मूल्य वहाँ के आंतरिक मूल्य से शीघ्र नीचे गिरने लगता है, इस नियम के अपवाद भी हैं, यदि एक देश की मुद्रा में बहुत अधिक ह्रास नहीं हुआ है और वहाँ के विनिमय व्यापारी-समुदाय को यह विश्वास है कि देश अपनी मुद्रा पूर्ति को संकल्प-निष्ठा के साथ कम कर रहा है, वह स्वर्ण के रूप में मुद्रा के पुराने मूल्य को स्थापित करना चाहता है और इसमें उसे सफलता भी मिलेगी, तो यही उम्मीद मुद्रा के बाह्य मूल्य को उतनी तेजी से नहीं गिरने देगी जितनी तेजी से उसका आंतरिक मूल्य गिर रहा है। इस स्थिति से उन लोगों को एक कृत्रिम असुविधा का सामना करना पड़ता है जिनके हाथ में निर्यात व्यापार है, क्योंकि वे देखते हैं कि विदेशी मुद्रा के विक्रय से उनकी प्राप्ति उत्पादन-लागत की अपेक्षा धीरे-धीरे

बढ़ती है। अब यदि मुद्रा का मूल्य उसके नीचे (आंतरिक) स्तर पर स्थिर कर दिया जाय, तो निर्यात व्यापारियों की असुविधा तुरन्त दूर हो जाय और घरेलू व्यापारों पर भी कोई दबाव न पड़े। किन्तु यदि मुद्रा का मूल्य उसके ऊँचे (बाह्य) स्तर पर स्थिर किया जाता है तो घरेलू व्यापारियों को भी निर्यात व्यापारियों के साथ नैराश्य और गिरते हुए मूल्यों की चक्की में पिसना पड़ेगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि १९२६-२७ में डेनमार्क और नार्वे में इसी प्रकार की स्थिति थी। वहाँ की सरकारों ने स्वर्ण के रूप में अपनी मुद्रा के पुराने मूल्य को स्थिर करने के लिए राष्ट्र के उद्योगों को निराशा एवं बेरोजगारी के पाटों में डाल दिया। ब्रिटेन में भी क्या यही स्थिति रही है, इस सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है। यह विवाद सूचक अंकों (index numbers) की व्याख्या पर निर्भर है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि स्वर्णमान की पुनः स्थापना (मई, १९२५) के पूर्व के ९ महीनों में पौंड का बाह्य मूल्य (जो डालर के मूल्य पर आधारित था) उसके आंतरिक मूल्य की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया था। इसका कारण पुरानी दर पर स्वर्णमान की शीघ्र पुनः स्थापना की उम्मीद थी, किन्तु इस वृद्धि से क्या सचमुच यह प्रकट होता है कि दर-संतुलन में गति भंग हो गया था? अथवा इससे यह प्रकट होता है कि संतुलन १९२३ से पूर्व की अपनी स्थिति पर आ गया था और बाद में डालर की विधा में पौंड का मूल्य असामान्य ढंग से नीचे गिर गया था? पौंड की इस आधोगति के कारण तो लोगों को मालूम ही हैं—उस वर्ष यूरोप की मुसीबतें, और विशेषतः अमरीकनों की उदासीनता—आखिर कोई अपनी रकम क्यों यूरोप की उबलती हुई कढ़ाई में डाले? विभिन्न व्यक्तियों ने इस विषय पर विभिन्न उत्तर दिये हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि अक्तूबर १९२४ और मई १९२५ के बीच, **पिछले १८ महीनों की अपेक्षा,** ब्रिटेन के निर्यात व्यापारियों के कंधों पर बहुत बड़ा बोझ पड़ा और मई में जिस निश्चय की घोषणा

की गयी उससे उनके गले भी फंदे में फंस गये ।

§१०. **स्थानीयकरण के भावी परिणाम** (The Aftermath of Stabilisation)—यह कहा जा सकता है कि ये सब बातें अब इतिहास में आयी गयी हो गई हैं । यह पुनः व्यवस्था की पीठ पर थपकी लगाकर की गयी अथवा उसके मुँह पर चपत मारकर, इससे हमें क्या हानि-लाभ होता है ? अब जबकि प्रायः सारा संसार फिर स्वर्णमान पर चला आ रहा है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वही मार्ग अपना सकता है जो विभिन्न देशों की पारस्परिक आवश्यकताएँ और योग्यताएँ निर्धारित करें । इस प्रकार का तर्क उस 'अवसर' तत्व को अधिक महत्त्व नहीं देता जो स्वर्णमान को अक्षुण्ण रखने वाली मुद्रा व्यवस्था में सदैव निहित है । इस 'अवसर' तत्व का महत्त्व हम अध्याय ४ में समझा चुके हैं, यह तर्क उन शक्तियों की भी अवहेलना करता है जो विकट उथल-पुथल के वर्षों के बाद मुद्रा अधिकारियों को 'अवसर' तत्व को उदारतापूर्वक अपनाने के लिए बाध्य करती हैं । कुछ देशों, जैसे फ्रांस, में यही अड़चन लोगों के सामने उपस्थित की जाती है और मुद्रा का बाह्य मूल्य-स्तर स्थिर रखना कोई आसान काम नहीं है । इसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा-पूर्ति पर अनावश्यक दबाव डाला जाता है और वहाँ का आंतरिक मूल्य-स्तर अपनी प्रकृत अवस्था में नहीं आ पाता । अन्य देशों, जैसे जापान में मुद्रापूर्ति पर दबाव डालने वाली सत्ता ही अपने आपको पर्याप्त समर्थ नहीं पाती । और दूसरे देशों, जैसे ब्रिटेन और रूस में वह सत्ता अत्यन्त समर्थ हो सकती है किन्तु उसके पथ में ऐसी राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ आ सकती हैं जिनका उसने कभी अनुमान भी नहीं किया होता । वह समय आ सकता है जब ये उलझनें हमारे सामने से एकदम दूर हो जाएँ किन्तु इस पुस्तक के पहले पाठक तो यह निश्चित रूप से जान लें कि विप्लव-काल की सारी पेचीदगियाँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं । आज जो मुद्रा नीति का निर्माण करने वाले हैं उन्हें कई समस्याओं

का लेखा रखना पड़ता है और उन समस्याओं में कुछ सीमा तक यह जानना भी आवश्यक है कि किस प्रकार बाह्य और आंतरिक मूल्य-स्तरों में खिचाव चलता है और किस प्रकार उसके कारण व्यवसाय की गति आगे पीछे होती रहती है।

अध्याय : : ७

मुद्रा-मान का प्रश्न

(The Question of the Standard)

वनमक्खी ने पहले मौन भंग किया और पूछा :

"तुम किस आकार की बनना चाहती हो ?"

एलिस ने शीघ्रतापूर्वक उत्तर दिया :

"मुझे आकार की विशेष चिन्ता नहीं किन्तु यह तो तुम जानती ही हो कि पल-पल पर बदलना किसी को भी नहीं सुहाता।"

"मैं नहीं जानती", वन-मक्खी ने कहा।

—एलिस' एडवेन्चर्स इन वंडरलैंड

§१. **उत्पादन शक्ति के प्रतिकूल बदलने वाले मूल्यस्तर का पक्ष** (The Case for a Price-level varying with Productive Power)—अन्ततः मुद्रा-नीति के विषय तक पहुँचते समय एक ऐसे प्रश्न से बचे रहना असम्भव है जिसे बहुतसे लोग समाप्तप्राय: समझना चाहेंगे, वह प्रश्न यह है कि क्या संसार ने अपने आपको फिर से स्वर्ण-मान में जकड़कर बुद्धिमत्ता का कार्य किया है ? अथवा हमारे लिए ऐसे समय की प्रतीक्षा करना उचित होगा जबकि यह निर्णय फिर उलट दिया जाएगा ? इस प्रश्न पर अपनी राय प्रकट करने से पूर्व एक अधिक मूलभूत प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। यदि हम इस सम्बन्ध म पूर्णत: स्वतन्त्र होते तो मुद्रा-मल्य से किस प्रकार के व्यवहार की आशा रखते ? इस प्रश्न का स्वाभाविक उत्तर तो यही होगा कि हम तो यही चाहते कि मुद्रा-मूल्य स्थिर रहे,

मुद्रा के मूल्य में होने वाली अस्थिरता के किसी प्रदर्शन के फलस्वरूप (जिसके सम्बन्ध में इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है) होने वाले वास्तविक धन के संकुचन और विस्तार अथवा वितरण और उत्पादन से सम्बद्ध तीव्र उथल-पुथल को ध्यान में रखने पर तो कम-से-कम यह निष्कर्ष सर्वथा स्वाभाविक जान पड़ता है किंतु यह कोई स्वतः सिद्ध धारणा नहीं है। इस सम्बन्ध में पूरी आज़ादी होने पर हमें मुद्रा के मूल्य से किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखनी चाहिए, इस सम्बन्ध में कम-से-कम दो सम्भावित सिद्धान्त और भी हो सकते हैं।

इनमें से प्रथम इस बात की ओर संकेत करता है कि व्यापारिक वस्तुओं की मानवीय परिश्रम और असुविधाओं के रूप में आंकी जाने वाली वास्तविक लागत एक सन्तति से दूसरी सन्तति अथवा, यहाँ तक कि एक वर्ष से दूसरे वर्ष तक स्थायी नहीं रहती, मानवीय कार्य-कलापों में ऐसी तीन प्रवृत्तियाँ अपनी जड़ जमाये हुए हैं जो इन वास्तविक लागतों में परिवर्तन लाती रहती हैं। इनमें से प्रथम एक दिशा में कार्य करती है, अन्य दो दूसरी दिशा में। प्रथम अर्थात् अन्वेषण, वैज्ञानिक, अनुसन्धान, व्यावसायिक तथा औद्योगिक संगठन और पूर्ति के नवीन साधनों के विधियुक्त उपयोग की प्रगति लगातार प्रकृति पर मनुष्य का अधिकार बढ़ाने और वास्तविक लागत (जिस पर वस्तुएँ बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती हैं) कम करने का कार्य कर रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (विशेषतः अन्तिम २५ वर्षों में) यह प्रवृत्ति निर्बाध होकर अपना कार्य करती रही। द्वितीय अर्थात् जन-संख्या की वृद्धि, भूमि के कृषि-योग्य भाग की सीमाबद्धता, मानवीय परिश्रम के प्रति प्रकृति की सीमित अनुकूलता, चालू आमदनी के मुकाबले इस संसार की उस विवशता की मात्रा जिसके अनुसार इसे अभी शक्ति के पूँजीगत स्रोतों (कोयला और तेल के रूप में) पर निर्भर रहना है—ये सब रुक-रुककर परन्तु कदाचित् अन्ततः प्रथम प्रवृत्ति से

विपरीत दिशा में एक क्रमशः बढ़ता हुआ प्रभाव डालती हैं। तृतीय, अथवा राष्ट्रों की उस प्रवृत्ति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके अनुसार वे समय-समय पर लड़ाइयाँ छेड़कर अथवा बड़ी-बड़ी सन्धियों द्वारा अपनी संचित पूँजी और संगठन सम्बन्धी सफलताओं का नाश करके वस्तुओं की वास्तविक लागत बढ़ा देते हैं।

यह कहा जा सकता है कि किसी हद तक इन प्रवृत्तियों को पहले से ही समझकर मुद्रा-सम्बन्धी वायदे करते समय उनके लिए गुँजाइश रख ली जाती है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति अगले वर्ष १०० पौण्ड सदा अथवा अन्य किसी अवधि तक के लिए लेने को प्रस्तुत हो जाता है वह पहले से ही इस बात का अनुमान लगा लेता है कि मानवीय प्रयत्नों की उत्पादकता तथा उसके फलस्वरूप मुद्रा-मूल्य में कितना परिवर्तन होगा, इसके अतिरिक्त, यदि उसने इस प्रकार का अनुमान नहीं लगाया है अथवा उसके अनुमान गलत बैठते हैं तो यह उचित ही है कि उसकी आशाओं की पूर्णतः पूर्ति न हो परन्तु उस दशा में भी उसे मानवीय प्रयत्न की उत्पादकता में होने वाली अप्रत्याशित वृद्धि अथवा कमी के अनुरूप अपनी आशा से अधिक अथवा कम वास्तविक वस्तु की प्राप्ति होनी ही चाहिए।

इस विचारधारा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम यह कल्पना कर लें कि—

हो रहा जग के महत् युग का नया आरम्भ,
वर्ष स्वर्णिम आ रहे हैं लौटते।
चाहती वसुधा बदलना, सर्पवत्,
शरद् के खर पात, जो अब, केंचुली से, व्यर्थ हैं।

कल्पना कर लें कि मनुष्य प्रकृति के साथ चल रहे अपने संघर्ष विजय पर विजय पाता चला जा रहा है तब क्या यह वांछनीय ीं होगा कि वे लोग जिनकी मुद्रा आय (Money Income) ानून अथवा प्रथा द्वारा अपेक्षाकृत निश्चित है और जो सामान्यतः

समाज के अधिकतम आत्मनिष्ठ सदस्य नहीं हैं उन्हें, पहले से ही इसकी निश्चित आशा न होने पर भी, गिरती हुई कीमतों के रूप में प्रगति के पुरस्कार का एक भाग आप ही आप मिल जाय ?[1] और फिर क्या यह वांछनीय नहीं होगा कि मजदूरों को (भले ही उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार लूट में हिस्सा बंटाने की अपनी क्षमता सिद्ध क्यों न कर दी हो) निरन्तर नकद मज़दूरी बढ़ाने की माँग करने के लिए बाध्य किये बिना ही अपना भाग ले लेने दिया जाय ? इस प्रकार की मांग के कारण चाहे वास्तव में काम बन्द हो या नहीं निस्संदेह इस प्रकार आपस के सम्बन्धों में तो खिचाव पैदा हो ही जाता है और साथ ही नेताओं की निर्माणकारी शक्तियाँ भी क्षीण होती हैं ।

इसके विपरीत, हम यह कल्पना करें कि यदि संसार यांत्रिक-शक्ति की समस्या हल करने में असमर्थ रहे अथवा विश्व-युद्ध संसार के भीषणतम विस्फोटों की शृ ंखला की प्रथम कड़ी मात्र सिद्ध हो तो क्या यह बात मानी जा सकती है कि बँधी आय वाले लोगों को सदा उसी प्रकार समाज की (वस्तुओं और सेवाओं के रूप में निहित) वास्तविक आय का उतना ही पूरा परिमाण (और फलतः अधिक आनुपातिक परिमाण) ले लेने दिया जाना चाहिए जितना उन्हें कीमतें स्थिर रखने की दिशा में प्राप्त होता । ईंधन की कमी के कारण कम्पित अथवा भयानक युद्धों द्वारा लुटे मिटे देश में क्या ऋणदाता या मज़दूर-संघी की यह दलील सुनी अथवा मानी जायगी कि "मैं तो अपना प्राप्तव्य लूँगा ही, मैं इसके विरुद्ध कुछ सुनन के लिए तैयार नहीं ।"

ऐसे ही तर्कों के आधार पर एक ऐसे मूल्य-मान (Standard of Value) का औचित्य स्थापित किया जा सकता है जो सामान्य वस्तुओं की विधा में नहीं, श्रम अथवा उत्पादन शक्ति की विधा में स्थिर रहे, पाँचवें अध्याय के पाँचवें खंड में हमने जो निष्कर्ष निकाला था उससे इस औचित्य को अत्यधिक बल प्राप्त होता है । वह निष्क

१. मार्शल, एविडेंस बिफोर गोल्ड एन्ड सिल्वर कमीशन

यह था कि एक ऐसे मूल्य-मान पर चल कर ही बैंक-प्रणाली अधिकतम सुगमतापूर्वक उतनी, और केवल उतनी ही, वास्तविक बचत व्यापार और उद्योग की इच्छा पर छोड़ सकती है जितनी जनता, मुद्रा के रूप में, छुड़वाना चाहती है। अतः यदि हम, अन्य तर्कों के आधार पर यह निर्णय कर लें कि मुद्रा का मूल्य सामान्यतः स्थिर ही रखना चाहिए तब भी हमें कदाचित् यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानवीय उत्पादकता में होने वाले असाधारण परिवर्तन (उदाहरणार्थ रेडियो सक्रियता Radio Activity को वश में करने अथवा शतवर्षीय युद्ध के कारण होने वाले परिवर्तन) को उपर्युक्त नियम का अपवाद ही मानना चाहिए। इतना ही नहीं, अधिक सामान्य स्थितियों में भी यह निश्चित करने के लिए कि मुद्रा का क्या मूल्य स्थिर किया जाय, हम मुद्रा के विनिमय मूल्य (transaction value) का सूचकअंक चुनकर (जिसमें मजदूरी के भुगतानों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है) अथवा फुटकर कीमतों को सूचकअंक अपनाकर—क्योंकि फुटकर कीमत पर वस्तुएँ अनेक प्रकार के अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं—कदाचित् उपर्युक्त धारणाओं को कुछ महत्त्व देना चाहेंगे। प्रत्येक अवस्था में हम इस कार्य के लिए थोक कीमतों के उन सूचक-अंकों को तो उपर्युक्त मानने में हिचकेंगे ही जिन्हें अब भी प्रायः मुद्रा के मूल्य का सन्तोषजनक अभिव्यंजक माना जाता है। इस सम्बन्ध में हमें यह जानकर आश्चर्य-मिश्रित-सन्तोष होगा कि एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशालिनी संस्था—फेडरल रिजर्व बैंक ऑफ़ न्यूयार्क—भी कुछ वर्षों से इसी विचार को मान्यता देकर एक निजी विनिमय—मूल्य सूचकअंक के आधार पर काम कर रही है।[1]

§२. **धीरे-धीरे ऊँचे उठने वाले मूल्यस्तर के पक्ष में** (The Case for a Gently Rising Price Level)—परन्तु इससे

१. कार्ल स्नाइडर, हार्वर्ड रिव्यू आफ़ इकनामिक स्टेटिस्टिक्स, फरवरी, १९२८।

अधिक निश्चित रुप से कुछ स्वीकार करने से पूर्व हमारे लिए यह उचित होगा कि हम इस तरीके के एक सर्वथा भिन्न पक्ष पर विचार कर लें जिसका अवलम्बन मुद्रा-मूल्य को करना चाहिए। प्रथम अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि पुराने सौदों की शर्तें, अपने पक्ष में बदलकर मूल्य में कमी करना उन लोगों के लिए हितकर सिद्ध होता है जो हमारी औद्योगिक प्रणाली की गतिविधि का आयोजन और नियन्त्रण करते हैं। छठे अध्याय में हम यह भी देख चुके हैं कि इस मूल्य में लगातार होने वाली गिरावट इस प्रकार के अधिकाधिक लाभों के सम्बन्ध में उनकी आशाओं को प्रोत्साहित करके उन्हें वस्तुओं के अधिक उत्पादन की प्रेरणा देती है। इस कथन की सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं। अच्छी और सुनिश्चित आर्थिक स्थिति का गर्व करने वाले, एक निश्चित मुद्रा-आय प्राप्त करते रहने वाले अथवा औद्योगिक प्रगति के फलों का आदर्श नियोजन करने वाली योजनाओं में रुचि रखने वाले व्यक्ति सरलतापूर्वक इस तथ्य को भले ही भुला दें किन्तु इस प्रकार इसकी सत्यता कम नहीं होती। धीरे-धीरे बढ़ता मूल्य-स्तर व्यापारी को अच्छा लगता है और व्यापारी ही वह घुड़सवार है जिसके हाथ में उद्योग रूपी घोड़े की लगाम होती है। व्यापारिक संसार में "व्यापार की आवश्यकता" के समर्थक, कुछ सीमाओं में, यह जानते हैं कि उनका लक्ष्य क्या है। पाँचवे अध्याय में हमने उन्हें जिस युद्ध में परास्त किया था वह हमने अपने अनुकूल आधार पर लड़ा था—इस आधार पर लड़ा था कि वे लोग जनता को अनिवार्य बचत के लिए बाध्य नहीं करेंगे किन्तु यदि वे इस आपत्ति की परवाह न करें और कीमतें बढ़ना पसन्द करें तो? हम तो उनके आधीन हैं। उत्पादन उनके अधिकार में है, वे निर्विकार भाव से यह भी कह सकते हैं कि हमारी यह पसन्द पूर्णतया स्वार्थप्रधान अथवा केवल मुनाफाखोरी के लाभ के लिए ही नहीं है। यदि हम थोड़ी-सी अनिवार्य बचत से डर जाते तो क्या रेलों और संसार के विशालतम बिजली घरों का

निर्माण कभी सम्भव था ? क्या बढ़ती हुई कीमतें ही बेकार घरों (Work-houses) और रोजगार दिलाने वाले दफ्तरों के रजिस्टरों को खाली करके फैक्टरियों तथा जहाज़ बनाने के कारखानों को नहीं भरतीं। कुछ लोग सस्ता जीवन व्यतीत करें और कुछ गलियों-सड़कों पर पड़े रहें, क्या इससे अच्छा यह नहीं है कि सब लोग काम में लगे रहें, भले ही वे जीवन-निर्वाह के खर्च के कारण कुछ कष्ट का ही अनुभव क्यों न करते रहें ?

निस्संदेह, बढ़ती हुई कीमतों के प्रति यह आकर्षण अंशतः एक भ्रम पर आधारित है। वेतन पाने वाले अफसर और ट्रेड यूनियनवादी को उससे कम वास्तविक पुरस्कार के बदले स्वीकार करने के लिए बहका लिया जाता है जितना वे लेना चाहते हैं। व्यापार का कर्णधार भी इस भ्रम का शिकार होता है क्योंकि वह यह समझने लगता है कि उसे केवल इस विचार से ही प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता कि उसे अपने प्रतिज्ञा-पत्र-धारियों, अपने डाक्टर, यहाँ तक कि अपने कर्मचारियों के मूल्य पर वास्तविक मुनाफे होंगे अपितु वह तो अपने सह-व्यापारियों के मूल्य पर होने वाले काल्पनिक मुनाफों से भी प्रोत्साहित होने लगता है। आरम्भ में तो यह विश्वास करना अति कठिन है कि दूसरे लोग दुःसाहस अथवा सौभाग्य वशात् अपने प्रभार (Charges) उतने ही बढ़ा सकेंगे जितने स्वयं उसने बढ़ा लिये हैं। यह प्रोत्साहन अथवा उत्तेजना वास्तविक हो चाहे भ्रामक, किन्तु इसका प्रभाव अवश्य होता है क्योंकि अन्य विषयों की भाँति आर्थिक मामलों में भी मानवीय प्रयत्न का पोषण अंशतः भ्रम द्वारा होता है और अंशतः सत्य द्वारा। इसीलिए तो सरकारों की युद्ध-सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था के विरुद्ध की जाने वाली अधिकाँश आलोचना लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाती है। धन के स्वामियों की अपेक्षा युद्ध के स्वामी रणोत्साह से अधिक परिचित होते हैं, वस्तुतः यह उन्हीं का कार्य क्षेत्र है।

एक विचारणीय बात यह भी है कि यदि जादूगरी के ये करिश्मे

युद्ध में अनिवार्य हैं तो क्या हम पूर्णतः आश्वस्त भाव से कह सकते है कि शान्ति-काल में हमारा काम इनके बिना चल सकता है ? क्या विगत वर्षों में समाज के किसी भी वर्ग ने नग्न सत्य के इस उत्तेजन के प्रति अपने को इतना अधिक अनुभूतशील प्रगट किया है ? जब तक उत्पादन की लगाम एक ऐसे अल्प-संख्यक दल के हाथों में है जो घटते-बढ़ते मुनाफों द्वारा पुरस्कृत होता है उस समय तक यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती कि धीरेधीरे बढ़ने वाले मूल्य-स्तर के परिणाम वास्तव में केवल उत्पादकों के लिए ही नहीं अपितु सामान्यतः सम्पूर्ण समाज के लिए श्रेष्ठतम होंगे और यह भी सम्भव है कि अच्छे-से-अच्छे कारणों से भी लगातार गिरने वाला मूल्य-स्तर उस प्रेरणा के लिए घातक ही सिद्ध हो जिस पर आधुनिक समाज आधारित है और जिस पर, बुद्धिमत्ता अथवा मूर्खतापूर्वक, समाज के सदस्यों को पूर्णतः काम पर लगाए रखने तथा समाज का सब कार्य कराने का भार है।

अस्तु, यदि हमें इस सम्बन्ध में पूरी स्वाधीनता हो तो हम कदाचित् मूल्य-स्तर स्थायी बनाये रखने के निश्चय से चिपके रहना ही पसन्द करेंगे किन्तु हमें अपने आपको इस बात के लिए बाध्य करना चाहिए कि हम अत्यन्त सावधानी के साथ अपने इस निश्चय की व्याख्या करें। हमें इस बात के लिए भी तैयार रहना होगा कि हम या तो इस निश्चय को स्थगित कर दें अथवा असाधारण परिस्थितियों में मुद्रा सम्बन्धी सौदों के कायाकल्प के लिए कटिबद्ध हो जाँय। जब तक हम उस तरीके को अपनाए हुए हैं जिसे व्यक्तिगत उद्यम (Private Enterprise) अथवा वेतन दासता (Wage Slavery) के नाम से सम्बोधित किया जाता है तब तक तो हमें इस बात में संकोच नहीं करना चाहिए कि उद्योग रूपी टायर अनावश्यक रूप से फूलता जान पड़ने पर मुद्रा रूपी पम्प के प्रयोग में तनिक सावधानी बरत लें।

§३. **स्वर्ण मान के विपक्ष में** (The Case against the Gold Standard)—अब हम मुद्रामान के विषय पर लौटकर इस बात पर

विचार करें कि यह हमारे द्वारा चुने गये माध्यम (via media) अथवा किसी और प्रस्तावित मार्ग पर चलने में हमारा पथ-प्रदर्शन करने की कोई निश्चित क्षमता रखता है या नहीं? इस प्रश्न का निश्चित रूप से यही उत्तर होगा कि स्वर्ण-मान में यह क्षमता नहीं है। स्वर्ण-मान पर चलने वाले देश में यह हो सकता है (और यह हो भी चुका है) कि सोने के अत्यधिक उत्पादन और आयात के कारण मुद्रा-पूर्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो जाय कि उद्योग अपने हाथों में अकस्मात् आ जाने वाली इस शक्ति और इन साधनों का समुचित एवं लाभप्रद उपयोग भी न कर पाय और बढ़ती हुई कीमतों के कारण जन-साधारण पर आ पड़ने वाले भार की ओर भी ध्यान न दिया जा सके। अथवा यह भी हो सकता है (ऐसा हो भी चुका है) कि औद्योगिक विस्तार के लिए सर्वथा अनुकूल वातावरण होने और जनता के हृदय में यह तीव्र आकांक्षा होने पर भी कि यदि उसे अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने का सही तरीका पता चल जाय तो वह धन बचा कर अपनी बचत को बैंक-प्रणाली के माध्यम द्वारा उद्योग के हाथों सौंप दे, स्वर्ण कोषों (Gold reserves) की कमी के कारण औद्योगिक उत्पादन में होने वाले विकास एवं विस्तार की गति धीमी ही रह जाय। अनियंत्रित स्वर्णमान के विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, संक्षेप में उसका सारांश यही है।

महायुद्ध से पहले की शताब्दी में उक्त मान का आचरण निस्संदेह आदर्श से कहीं दूर रहा है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि थोक कीमतों की गति विधि एक पूर्णतया सन्तोषजनक कसौटी नहीं है किंतु इससे अधिक उपयुक्त कसौटी के अभाव में इसी साधन को अपना लेने पर हम देखते हैं कि इंगलैंड में १८२१—२५ और १८४६—५० के बीच में थोक कीमतों में २५ प्रतिशत कमी हुई, १८४६—५० और १८७१—७५ के बीच में उनमें २० प्रतिशत वृद्धि हुई; १८७१—७५ और १८९४—९८ के बीच में वे ४० प्रतिशत गिरीं; १८९४—९८

और १९०९—१३ के बीच में वे ३० प्रतिशत बढ़ गयीं[1]। कदाचित् यह तो सत्य है कि इनमें से द्वितीय अवधि में स्वर्णमान ने सामान्यतः उद्योग को स्वस्थ प्रेरणा प्रदान की किन्तु अधिकतर यह आकस्मिक ही था और इसका कारण लंदन के बैंक जगत् और केलीफोर्निया तथा आस्ट्रेलिया में होने वाली खुदाइयों से सम्बद्ध अप्रत्याशित घटनाएँ ही थीं। यह भी सत्य है कि कीमतों में बहुत अधिक कमी होने देकर इसने तृतीय अवधि में संसार के उत्पादन में होने वाली अत्यधिक वृद्धि का आभास दिलाया किन्तु यह बात भी अंशतः आकस्मिक ही थी, इतना ही नहीं, हमें उक्त शताब्दी के आठवें दशक में होने वाले कृषि-उत्पादन के भीषण ह्रास, बेकारी और श्रम सम्बन्धी उत्तेजना को भी दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए, चतुर्थ अवधि में सोने के व्यवहार के सम्बन्ध में तो हमें अधिक कुछ नहीं कहना है।

१९१४ के बाद के वर्षों में सोने के दुर्व्यवहार पर अधिक बल देना उचित नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे महायुद्ध की किसी अन्य आर्थिक वस्तु-स्थिति पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता किन्तु हमें इस बात का तनिक आभास तो हो ही जाना चाहिए कि इस समय हमारी स्थिति क्या है। मोटे तौर पर इस समय संसार, सोने के स्टाक में केवल ४० प्रतिशत वृद्धि होने पर भी, १९१४ की तुलना में ५० प्रतिशत ऊँचे मूल्यस्तर को सहारा दे रहा है और विशेष बात यह है कि यह सहारा १९१४ से अब तक के वर्षों में जनसंख्या बढ़ने और उसके फलस्वरूप मुद्रा की मांग में वृद्धि होने के बावजूद दिया जा रहा है। यह सब कार्य सोने के प्रयोग में मितव्ययता करके और, विशेषतः स्वर्ण-प्रचलन-पद्धतियों के बदले स्वर्ण-पाट और स्वर्ण-विनिमय-पद्धति प्रचलित करके किया गया है। इसका परिणाम यह है कि १९१३ के लगभग त्रि-पंचमांश ($\frac{३}{५}$) की तुलना में अब संसार के मौद्रिक स्वर्ण का लगभग नव-दशांश ($\frac{९}{१०}$) केन्द्रीय बैंकों और राज्य कोषों में इकट्ठा हो गया है और

१. लेटन, इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ प्राइसिज, पृ० २३।

शेष एक दशमांश (१/१०) साधारण बैंकों तथा जनता के हाथों में है। निस्संदेह, ऐसे कुलक्षण अवश्य परिलक्षित हो रहे हैं कि सोने के संबंध में मितव्ययता की यह धारा-विपरीत दिशा में बढ़ना चाह रही है। अनेक यूरोपीय देशों में, जहाँ स्वर्ण-मान की फिर से स्थापना हो गयी है, केवल नोटों और उनके बदले सुरक्षित रखे जाने वाले रिजर्वों के अनुपात के सम्बन्ध में नियम ही बहुत कड़े नहीं हैं किन्तु रिजर्वों के एक भाग को विदेशी बैंकरियों और प्रतिभूतियों के रूप में रखने के विकल्प का प्रयोग भी बराबर कम हो रहा है। कुछ लोग स्वर्ण-विनिमय-पद्धति को अन्ततः स्वर्ण-पाट अथवा स्वर्ण-प्रचलन-पद्धति तक पहुँचने का साधन समझते हैं। भारतीय राजनीतिक अभिमत भी इस प्रकार के परिवर्तन की माँग करता रहा है और यह संभव है कि जब चीन की स्थितियाँ ठीक हो जायेगीं तो वह भी चाँदी के स्वेच्छापूर्ण मानों के वर्तमान विषम जाल के स्थान पर स्वर्ण-मान के किसी-न-किसी रूप को अपनाकर शेष संसार के साथ हो जायगा। यदि ये प्रवृत्तियाँ निर्विघ्न फलती फूलती रहीं तो एक ऐसी शक्ति कार्योन्मुख हो जायगी जो संसार भर में कीमतों को युद्ध-पूर्व के स्तर पर घसीट ही लायेगीं।

इसी पृष्ठभूमि पर इस सत्य का उल्लेख किया जा सकता है कि देखने में तो अपने निक्षेपों और फेडरल रिजर्व नोटों के बदले रखे जाने वाले सोने के अनुपात से सम्बद्ध नियमों को बदले अथवा उनका उल्लंघन किये बिना ही अमरीका करोड़ों डालर का सोना शेष संसार को दे सकता था। किन्तु, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, देखने में आसान जान पड़ने पर भी वस्तुतः अमरीका की बैंक-प्रणाली द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना इतना आसान नहीं है जिससे सोने की इस निकासी को प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान लिया जाय कि अमरीकी संग्रहों का पुनर्वितरण अपने प्रभावों से शेष संसार में स्वर्ण-तृष्णा की बढ़ी हुई प्रवृत्ति को बराबर कर देता है तो भविष्य में क्या होगा ?

इस समय मौद्रिक स्वर्ण का स्टाक प्रतिवर्ष लगभग २ प्रतिशत बढ़ रहा है और विशेषज्ञों का विचार है कि स्वर्ण का वार्षिक उत्पादन (विशेषतः दक्षिण अफ्रीका में जहाँ से इस समय पूरे स्वर्ण-संग्रह का लगभग आधा भाग प्राप्त हो रहा है) घटने की सँभावना है। ऐसी दशा में हमें संतोषपूर्वक यह मान लेना होगा कि संसार के स्वर्ण-संग्रह में प्रतिवर्ष १ प्रतिशत से बहुत अधिक वृद्धि नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, उक्त स्टाक में केवल उतनी ही वृद्धि होगी जो संसार की जन-संख्या में होने वाली वृद्धि की दर को संतुलित कर सके। अतएव यदि हम श्रम के मूल्य को गिरने से रोकना चाहते हैं तो हमें इससे ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए किन्तु यदि हम वस्तुओं (यहाँ तक कि ख़रीज की वस्तुओं) के मूल्य गिरने से रोकना चाहते हैं तो हमें आगामी वर्षों में प्रत्याशित व्यक्तिगत उत्पादकता की अभिवृद्धि संतुलित करने के लिए कदाचित् प्रतिवर्ष ढाई से तीन प्रतिवर्ष वृद्धि-दर की आवश्यकता होगी।

फिर भी हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि नाव गाड़ी पर न होगी यदि बैंक-प्रणाली सम्पूर्ण संसार में अत्यधिक प्रगति कर ले और यदि राष्ट्रों का पारस्परिक सौहार्द्र और विश्वास इतना सुदृढ़ हो जाय कि प्रत्येक देश निश्चयपूर्वक अपने रिज़र्वों को अपनी ही जेबों में रखने के बदले अपने पड़ौसी के पास रखना पसंद करने लगे तो एक ऐसा विश्व-व्यापी स्वर्ण-मान सम्भव हो सकता है जिसमें वास्तविक सोने का प्रयोग बहुत ही कम हो। केवल उसी दशा में सोने और उसके फलस्वरूप सोने के एक सुनिश्चित वज़न के बराबर रखी जाने वाली प्रत्येक मुद्रा-इकाई के मूल्य से होने वाली तीव्र कमी को रोकना अत्यन्त दुष्कर होगा। हम इस संभावना का भी परित्याग नहीं कर सकते कि भारत और पूर्वी देशों में शिक्षा के प्रचार और औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामान्यतः पूर्वीय देशों के उन किसानों के स्वभावों में भी परिवर्तन आ सकता है जो मूल्यवान धातुओं को आभूषणों के रूप में पहन लेना अथवा उन्हें पृथ्वी के नीचे गाड़

रखना ही बचत का सर्वश्रेष्ठ तरीका समझते रहे हैं। इतना ही नहीं, सम्भव तो यह भी है कि तब उस सोने के विशाल संग्रह का कुछ अंश भी बाहर निकल आए जिसे इस प्रकार संचय की भावना से इतिहास के विगत युगों में धरती के नीचे छिपा दिया गया था।

कुछ भी हो, सोने के मूल्य के भविष्य की अनिश्चितता ही इस तर्क की पुष्टि कर देती है। किसी ऐसे मूल्य-मान को बहुत स्थायी अथवा पवित्र माना जाना कठिन ही है जिसमें नई खानों की खोज, खनन के नये तरीकों के आविष्कार, स्वर्ण-मान अपनाने के पक्ष अथवा विपक्ष में किये गये किसी राज्य के निर्णय, भारतीय किसान अथवा लंदन के बैंकर द्वारा किये जाने वाले परम्परागत मिथ्या विश्वासों के परित्याग के कारण उलट-फेर हो सकता हो। एक सुनहरी धातु (जिसे मूल रूप में इसीलिए पसंद किया गया था कि वह असभ्य और जंगली लोगों की कल्पना को गुदगुदाती थी) का मूल्य तो स्पष्टतः एक ऐसी निराधार और निरर्थक वस्तु है जिस पर हम अपनी मुद्रा का मूल्य और अपनी औद्योगिक प्रणाली की सुदृढ़ता को आधारित नहीं कर सकते।[1]

§४. विश्वव्यापी स्वर्ण-मान की अनुरूपता के पक्ष में (The Case for Conformity to a World Gold Standard)—तब क्यों हम कोई श्रेष्ठतर मार्ग नहीं खोज सकते? सांकेतिक मुद्रा की व्यवस्था में इतनी प्रगति कर लेने के उपरांत क्या हम थोड़ी प्रगति और नहीं कर सकते? इच्छा होने पर भी हम बैंक-प्रणाली और नोटों का चलन तो समाप्त नहीं कर सकते किन्तु क्या हम वैज्ञानिक आधार पर उनका नियंत्रण करना भी नहीं सीख सकते? यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि न केवल "व्यापार की आवश्यकताओं" के समर्थक अपितु गम्भीर तथा विधारत दार्शनिक भी स्वर्ण-मान की कृत्रिमता और अप्रासंगिकता के विरुद्ध आवाज़ उठाएँ और यह सुझाव दें कि अपने

१. केन्स, इण्डियन करेंसी एण्ड फिनांस, पृष्ठ १०१।

उद्देश्य की पूर्ति के लिये—वह उद्देश्य निश्चित रूप से कुछ भी हो—हमें अब की तरह केवल आंशिक रूप से नहीं अपितु पूर्णतया मुद्रा-पूर्ति के जानबूझकर किये गये नियमन पर निर्भर रहना चाहिए। किसी देश-विशेष में इस सुझाव को क्रियान्वित किया जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर रहता है कि शेष संसार में स्वर्ण-मान प्रचलित है या नहीं क्योंकि यदि शेष संसार में स्वर्ण-मान प्रचलित है तो स्वर्ण-मान के समस्त दोषों के विरुद्ध इस असंदिग्ध सुविधा का उल्लेख किया जा सकता है जिसके कारण शेष संसार के साथ स्थायी विनिमय दर बनाई रखी जा सकती है। भिन्न-भिन्न देशों में इस सुविधा का महत्त्व, सम्बद्ध देशों के आर्थिक जीवन में विदेशी व्यापार के न्यूनाधिक भाग के अनुसार ही अलग-अलग होगा। उदाहरणार्थ यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि विश्वयुद्ध के दिनों में, जब भारत ने स्वर्ण-मान का त्याग किया उस समय उसे वैदेशिक विनिमयों की अस्थिरता से उस लाभ की तुलना में बहुत ही कम हानि हुई जो उसने अपना आन्तरिक मूल्य-स्तर अधिक स्थिर रखकर प्राप्त किया। यदि भारतीय मुद्रा का भाग्य अंग्रेजी पौंड अथवा यहाँ तक कि सोने के भाग्य के साथ जुड़ा रहता तो भारत के लिए आंतरिक मूल्य-स्तर स्थिर बनाए रहना संभव न होता। ब्रिटेन अधिकतर देशों की अपेक्षा, खाद्य पदार्थों और कच्चे माल की खरीद के लिए विदेशों पर अधिक आश्रित है। इन वस्तुओं का भुगतान वैदेशिक मुद्रा में करना पड़ता है। उधर ब्रिटेन अपने उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएं विदेशों के हाथ बेचता है जिनके लिए उसे वैदेशिक मुद्रा में ही भुगतान स्वीकार करने होते हैं। अतः उसके लिए विनिमय दरों की स्थिरता विशेष सुविधा की बात है। इसके अतिरिक्त कुछ तो जल्दी ही स्वर्ण-मान अपना लेने और कुछ पर्याप्त समय तक इस पर चलने के परिणाम स्वरूप ब्रिटेन ने संसार का वैदेशिक व्यापार चलाने के लिए वित्तीय साधन जुटाने वाले देश और पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय क्रय-

विक्रय के भुगतान घर (Clearing House) के रूप में अपने लिए पर्याप्त कारोबार जुटा लिया है। लन्दन का यह वित्तीय नेतृत्व कुछ लोगों के लिए प्रत्यक्ष लाभ का स्रोत है और बहुत-से लोगों के लिए अप्रत्यक्ष लाभ का क्योंकि अपनी सेवाओं के बदले विदेशियों ने भुगतान लेने का अधिकार प्राप्त हो जाने के परिणामस्वरूप उसका वह अधिकार और भी दृढ़ हो जाता है जो उन पूरे देश को संसार भर के खाद्य पदार्थों और कच्चे माल पर प्राप्त है। यही वे ठोस कारण हैं जिनसे हमारे पड़ौसियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों की पुष्टि होती है यद्यपि कदाचित् ये कारण उतने ठोस नहीं हैं जितने सम्बद्ध पक्षों द्वारा बताये जाते हैं। अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि घटते-बढ़ते विनिमयों से होने वाली असुविधाएं कम करने के तरीके सम्भव हैं और जहाँ तक लंदन के वित्तीय नेतृत्व का प्रश्न है इस बात का कुछ भय अवश्य है कि इस प्रकार सामने आने वाले प्रबल स्वार्थ समय-असमय पर स्वर्ण मान में केवल उन गुणों को ही नहीं जो उसमें उपस्थित हैं अपितु उन गुणों को भी आरोपित करके जिनका उसमें नितान्त अभाव है उस दिन को अनुचित रूप से स्थगित कर सकते हैं जबकि संसार व्यापार करने के अधिक उचित तरीके के लिए तैयार होगा।

§५. **वर्तमान के पक्ष में सामान्य विवेचन** (The General case for the Gold Standard)—प्रश्न यह है कि फिर अब तक संसार ने अपने को इस प्रकार का कदम उठाने के लिए तैयार प्रदर्शित क्यों नहीं किया? कदाचित् अन्य अनेक बातों की भाँति इस सम्बन्ध में भी १९१९ खोये हुए अवसरों का वर्ष था। उन वीरतापूर्ण दिनों में, जबकि मनुष्य का मस्तिष्क उस परिस्थिति की विचित्रता से जिसमें वह उस समय अपने को पा रहा था और एक नया संसार निर्मित करने के उन अवसरों से जिन्हें वह परिस्थिति प्रस्तुत कर रही थी प्रभावित था, यह सम्भव हो सकता था कि अन्य अनेक उपायों की भांति उन भौतिक शक्तियों का नियंत्रण करने के लिए भी यह निश्चित

कदम उठा लिया जाता जिनके सामने मानवता उसी प्रकार विचलित और डाँवाडोल होती है जैसे पदार्थ हवा के सामने। किन्तु, समय के साथ-साथ यह कार्य अधिक दुष्कर होता गया। नये संसार से उद्भ्रात, आश्चर्यचकित और हतोत्साहित व्यापारीवर्ग ने महायुद्ध से पहले की अपेक्षाकृत स्थिरता और विश्वशांति फिर से प्राप्त कर लेने का अधिकाधिक प्रयत्न किया है। इस आचरण को केवल अंधी एवं तर्कशून्य संकीर्णता मानकर हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें उस अपरिमित बाह्य और आंतरिक प्रोत्साहन को याद रखना चाहिए जिससे कोई बैंक-प्रणाली लगातार अपने ऋणों का परिमाण बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित होती रहती है और हमें साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मुद्रा की पूर्ति का इस प्रकार नियमन करना कि व्यापार की न्यायोचित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके अत्यन्त कठिन है। हमें उस दबाव का भी स्मरण रखना चाहिए जो, उपभोक्ता के नाम पर, अमुक-अमुक वस्तुएं—कोयला अथवा रेल परिवहन अथवा घर का कमरा—किसी-न-किसी प्रकार उन वस्तुओं की लागत से भी कम पर उपलब्ध करने के लिए सरकारों पर डाला जाता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है यदि बैंकर और सरकार, दोनों, अपने अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण क्षणों में, लोगों के सामने ऊँचे उठने और अपने निजी कोष्ठों में एकान्त चिन्तन करने के लिए एक दार्शनिक सूचक-अंक मात्र से अधिक प्रभावशाली आकर्षण की कामना करें। धर्म-परायण वनेचर का विश्वास भंग करने के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं वे ही तर्क बैंकर और नागरिक पत्रकार (कदाचित् राजनीतिज्ञ का तो कोई ऐसा विश्वास होता ही नहीं) का सरलविश्वास भंग करने के विरुद्ध भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यदि किसी स्वर्ण मान का कभी अस्तित्व नहीं रहा है तो उनके लाभ के लिए इसी प्रकार की किसी वस्तु का आविष्कार करने की आवश्यकता पड़ सकती है।

कहा जाता है कि जोहेन्सबर्ग में एक खान का मैनेजर रहता था

जिसकी एक आँख शीशे की (नकली) थी। जब उसे किसी आवश्यक कार्य से कहीं दूर जाना पड़ता तो वह अपनी आँख बाहर निकाल कर उसे किसी विशेष स्थान पर रख जाता था। इस प्रकार स्वामी की आँख लगातार अपनी ही ओर लगी देखकर सेवक निरन्तर कार्य करते रहते थे। सेवकों में से एक अपेक्षाकृत अधिक साहसी था। वह चुपके-चुपके उस नकली आंख तक जा पहुँचा और उसने उसे सिगरेट के एक डिब्बे से ढक दिया। ऐसा होते ही वह और उसके साथी उसी समय वहाँ से भाग गये और मद्यपान में निमग्न हो गये। यदि स्वर्ण-मान के समस्त चिन्ह मिटा दिये जायँ तो क्या होगा, इसका अनुमान उपर्युक्त दृष्टान्त से लगाया जा सकता है।[1]

ऐसी ही एक अन्य कथा भी है जो प्रत्यक्षत: सत्य होने की विशेषता से युक्त है। केरोलाइन द्वीपों में यूअप (Uap) नामक एक द्वीप है। यहां की मुद्रा केवल बड़े-बड़े पत्थरों के रूप में है जिन्हें फी (Fei) कहकर पुकारा जाता है। इनमें से अनेक पत्थर तो इतने बड़े हैं कि उन्हें हिलाया भी नहीं जा सकता अत: व्यापार के दौरान में जब उनका स्वामित्व परिवर्तित होता है तब भी भौतिक रूप से उन्हें एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जाता। वास्तव में उस द्वीप के अधिकतम धनवान् परिवार को यह सम्मान इसीलिए प्राप्त हैं क्योंकि उसके पास वह बहुत बड़ा पत्थर है जो उस समय अकस्मात् समुद्र में डूब गया था जब, अनेक वर्ष पूर्व, उसे उस द्वीप की ओर लाया जा रहा था। अनेक संततियों तक यह पत्थर समुद्र-तल पर पड़ा रहा और उक्त परिवार की प्रस्तुत सन्ततियों में से किसी ने भी उसे कभी आंख से नहीं देखा किन्तु इस बात पर कभी किसी ने शंका अथवा सन्देह की अभिव्यक्ति नहीं की कि वह उस द्वीप का

---

१. फरनेस, आइलैंड आफ़ स्टोन मनी, अध्याय ७, इकनामिक जर्नल, जून १९१५, पृष्ठ २८१ पर उद्धृत।

अधिकतम धनी परिवार हैं। एक बार वहाँ के निवासियों ने द्वीप की सड़कों को टूटने-फूटने दिया और उनकी मरम्मत करने से अत्यन्त दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया। जर्मन, जिनके अधिकार में उस समय वह द्वीप था, उन पर जुर्माना करने का कोई उपाय खोज निकालना चाहते थे। स्पष्टतः उस द्वीप से कोई पत्थर हटा ले जाने का प्रयत्न तो व्यर्थ ही था। अन्त में एक अत्यन्त सुखद ढंग से वह जुर्माना वसूल कर लिया गया। विद्रोही जिलों में, प्रत्येक फेलू (Failu) और पाबाई (Pabai) के लिए एक-एक आदमी भेजा गया जिसने कुछ अधिकतम मूल्यवान पत्थरों पर काले रंग से काटे का (×) निशान बना दिया। इसका आशय यह था कि उन पत्थरों पर सरकार अधिकार करना चाहती है। इस उपाय ने तो जादू का सा कार्य किया। लोग, जो इस प्रकार दुःखपूर्वक निर्धन बना दिये गये थे, आगे बढ़े और उन्होंने सड़कों की मरम्मत इतनी अच्छी तरह की कि द्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक समस्त सड़कें ऐसी जान पड़ने लगीं मानो वे विचरण के सुन्दरतम मार्ग हों। सरकार ने फिर अपने एजेंटों को वहाँ भेजा। उन्होंने जाकर पत्थरों पर लगाये गये निशान मिटा दिये। इस प्रकार तत्काल जुर्माना भी चुकता हो गया और प्रसन्नवदन फेलस (Failus) अपनी पूँजी के संग्रह पर अधिकार पाने और धन में डुबकियाँ लगाने में भी समर्थ हो गये। इसी प्रकार आप चाहें तो सोने को भी एक मूर्ति या देवता मान लें किन्तु यह अपना चमत्कार तो दिखाएगा ही।

§६. स्वर्ण के सार्वभौमिक मूल्य का नियंत्रण (The Control of World Value of Gold)—किन्तु यदि हम फिलहाल सारे संसार के द्वारा स्वर्णमान बनाए रखने की बात चुपचाप मान लेने और स्वयं अपने देश के उसी मान पर दृढ़ रहने का निश्चय करलें तो भी हमें कम-से-कम यह आशा नहीं करनी चाहिए कि विश्व के मुद्राधिकारी

स्वर्ण के दुराचरण को रोकने का सामूहिक प्रयत्न करेंगे। मानवता के हृदयाकाश पर इस आशा का उदय सर्वप्रथम जेनेवा में १९२२ में होने वाले विशेषज्ञों के एक सम्मेलन में हुआ और बाद के वर्षों में अमरीका ने सोने का प्रयोग एक ऐसे साधन के रूप में करने की कला का जो परीक्षण किया जो देश के लिए सुलभ हो, देश के समस्त वासियों पर अच्छा प्रभाव भी डाल सकता हो किन्तु जिसके क्रूर आदेशों से मुक्त रहा जा सके, इस परीक्षण ने इस आशा का अत्यधिक पोषण किया (अध्याय ४)। इस परीक्षण का सार है केन्द्रीय बैंक द्वारा अपने रिजर्वों और निक्षेपों के बीच रखे जाने वाले अनुपात को परिवर्तित करके उस शृंखला को कमजोर बना देना जो बैंक-मुद्रा की पूर्ति के साथ जोड़ती है। यह कार्य वस्तुतः जिस तरीके से किया जाता है उसका विस्तृत वर्णन तो एक अलग प्रसंग में आगे चलकर करेंगे (अध्याय ८, खण्ड २) यहाँ तो सोने के मूल्य के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त होगा।

ब्रसेल्स (Brussels) वासियों की अपेक्षा (अध्याय ६) अधिक कल्पनाशील जेनेवा वासियों ने यह सिफारिश की कि बैंक आफ इंग्लैंड को उस लक्ष्य की पूर्ति के उपायों और साधनों की खोज करने के लिए संसार के केन्द्रीय बैंकों का एक सम्मेलन बुलाना चाहिए। १९२८ तक ऐसा कोई सम्मेलन नहीं बुलाया गया था किन्तु यह मान लेना उचित नहीं होगा कि उत्तरदायी अधिकारियों ने (जिनमें उस मूक रहस्य प्रतिमा—बैंक आफ इंग्लैंड के अधिकारी भी सम्मिलित थे) इस विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार हीन ही किया। एटलाण्टिक (Atlantic) के पार होने वाली वित्तीय अधिकारियों की जिस महत्वपूर्ण भागदौड़ के समाचार हम समय-समय पर अपने दैनिक समाचार पत्रों में पढ़ते रहे हैं वे निश्चित रूप से कम-से-कम अंशतः तो इस महत्वपूर्ण विषय के साथ अवश्य सम्बद्ध रही होंगी। तथापि अभी इस सम्बन्ध में आश्वस्त होना कठिन है कि इस नीति का पालन इतने उत्साह के

साथ किया जा रहा है जिससे उन सब खतरों पर इसकी विजय निश्चित है जिनका उल्लेख खण्ड ३ में किया गया है। सम्भव है कि कुछ स्वतन्त्र एवं स्वाधीन राष्ट्रों की स्वर्ण-तृष्णा सम्बन्धी मोर्चेबन्दी का सामना करना कठिन हो जाय। साथ ही, संसार के स्वर्ण की पूर्ति में होने वाली आकस्मिक वृद्धि को प्रभावहीन करने के लिए एक पेचीदा और मँहगी प्रक्रिया की भी आवश्यकता पड़ सकती है। यदि स्वर्ण को वास्तव में एक ऐसा मेरोवेन्जियन नरेश बनना है जिसके राजमहल के संयुक्त मेयरों का कार्य बड़े-बड़े देशों के केन्द्रीय बैंकरों के हाथ में हो तब तो स्वर्णमान के विरुद्ध उठायी जाने वाली अनेक आपत्तियाँ और उसके पक्ष में दिये जाने वाले अनेक तर्क भी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं किन्तु यदि उसकी संरक्षकता सफलतापूर्वक लागू हो जाय तो वह यथा समय इतना उपहास का पात्र हो सकता है कि अपनी नाम मात्र की उपाधि छोड़ते समय भी उसकी हंसी उड़े। इसके विपरीत, ऐसा अवसर भी आ सकता है जबकि वह अपनी खोई हुई शक्तियों को फिर से प्राप्त कर लेने के लिए इतनी साहसपूर्ण और भयंकर नीति का अवलम्बन करे जिसके कारण उसे अन्त में सार्वभौमिक भर्त्सना के बीच बलपूर्वक बलि-मंच तक घसीट लाया जाय।

§७. **पौंड के पुनर्मूल्यन के पक्ष में** (The Case for Revaluation of the Pound)—मुद्रा-मान के प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में अंग्रेजों के सामने एक प्रश्न और भी है। यह स्वीकार कर लेने पर भी कि हमारे लिए स्वर्ण-मान बनाये रखना उचित है क्या यह भी उचित है कि हम १८१६ में और फिर १९२५ में निर्धारित की गयी ११३ ग्रेन की वह मात्रा भी बनी रहने दें जो शुद्ध सोने के उस वजन की द्योतक है जिसके मूल्य के बराबर पौंड-स्टर्लिंग का मूल्य रखना होता है। कदाचित् ऐसे लोगों की संख्या अधिक नहीं है जिन्हें इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह हो

तथापि यह बात स्वयंसिद्ध भी नहीं है। क्योंकि यदि यह सत्य है कि १६२५ के अधिनियम द्वारा निर्यातव्यापारों के गले में एक पत्थर बाँध दिया गया था (अध्याय ६), यदि यह सत्य है कि मुद्रा-पूर्ति में कमी करके उस पत्थर को दूर हटाने के मार्ग में आने वाली राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक बाधाएँ अब तक अपरिहार्य सिद्ध हुई हैं (अध्याय ६) और यदि यह सत्य है कि स्वर्ण के मूल्य में कमी की अपेक्षा वृद्धि की ही अधिक सम्भावना है (अध्याय ७) तब तो स्वर्ण के रूप में पौंड का मूल्य कम निर्धारित करना आन्तरिक और बाह्य मूल्य-स्तरों के बीच का अन्तर दूर करने और अन्ततोगत्वा निर्धारित लक्ष्य तक पहुं-चाने वाला मार्ग खोजने का सरलतम उपाय सिद्ध हो सकता है (अध्याय ६) निस्संदेह हमें आयातों के मूल्यों और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन व्यय में कुछ वृद्धि की आशा करनी होगी किन्तु क्या यह हममें से उन लोगों, जो विदेशी प्रतियोगिता के थपेड़ों से सुरक्षित हैं और उन भाग्यहीन व्यक्तियों के बीच संतुलन स्थापित करने का सबसे कम कष्टप्रद तरीका नहीं है जिन्हें अपने देश अथवा विदेशों की मंडियों के लिए माल तैयार करते समय उनकी पूर्ण शक्ति का सामना करना पड़ता है। "धन वाले" मनुष्य इस विचार मात्र से आपे से बाहर भले ही हो जायें क्योंकि वे उसे ठेके अथवा वायदे का सरासर खंडन और उसी क्षेत्र के विसर्जन के समान मानेंगे जिस पर अत्यन्त कष्टपूर्वक अधिकार किया गया था किन्तु अन्य लोग, जिनका दैनिक जीवन उन्हें प्राय: लन्दन नगर के स्वागत्‌कक्षों की अपेक्षा कारखानों और गन्दी गलियों में ही अधिक ले जाता है, लाखों बेकार आदमियों के कोलाहल से अपने कान न मूँद सकेंगे। उस समय वह लोग केवल इसी बात का स्मरण नहीं करेंगे कि बेकारी किस प्रकार बेकारों के जीवन और उनकी आत्मा के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है, वे तो बढ़ती हुई इस धारणा की भी दुहाई देंगे कि बेकारी का वीभत्स दृश्य काम पर लगे हुए व्यक्तियों में से भी कदाचित् आधे मनुष्यों के लिए चिन्ता

और असन्तोष का कारण होता है। उत्पादन में रुकावट, अन्वेषण शक्ति में रुकावट, मानवीय सदयता और उच्च अनुभूतियों में रुकावट—ये सब ही तो उस करबद्ध वीभत्स आकृति के सर्वविदित पुरस्कार हैं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि इतना अधिक मूल्य चुका कर प्राप्त की जाने वाली वित्तीय आदरणीयता का आखिर महत्व ही क्या है!

यदि बात वायदों पर आ कर रुकती है तो इसका उत्तर यह है कि इंग्लैंड में वायदे पौंड स्टर्लिंग की विधा में किये जाते हैं, सोने के पिंडों की विधा में नहीं। इसके अतिरिक्त एक वायदा ऐसा भी है जिसका सम्बन्ध हम सबके साथ है। वह वायदा है लगभग ६०००० लाख पौंड के राष्ट्रीय ऋण पर अपने सह-नागरिकों को व्याज अदा करने और धीरे-धीरे मूलधन भी चुका देने का। जिस समय यह ऋण लिया गया था उस समय के बाद से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाने के कारण इस ऋण का वास्तविक भाग लगभग एक तिहाई बढ़ गया है[1] और यदि हमारे लेनदारों से यह कहा जाय कि वे इस आकस्मिक लाभ का एक अंश त्याग दें और इस प्रकार उन्हें उस अतिरिक्त आकस्मिक लाभ से वंचित कर दिया जाय जो उन्हें उस समय प्राप्त होता जब हम आन्तरिक कीमतों का स्तर और भी नीचा कर देने की वैकल्पिक नीति अपना लेते, तो उसे वे अपने साथ किया जाने वाला बहुत बुरा व्यवहार नहीं समझेंगे।

§८. **पौंड के पुनर्मूल्यन के विपक्ष में** (The Case Against the Revaluation of the Pound)—एक बार जब हम अपने आपको खुले दिमाग से इस विषय तक पहुँचने के लिए बाध्य कर लेते हैं तो यह दिखाई देने लगता है कि इन तर्कों में बहुत अधिक बल निहित है किन्तु इससे पूर्व कि वे हमें क्रियाशीलता की सीमा तक ले जाय हमें एक पल के लिए ठहर जाना चाहिए। सर्वप्रथम हमे अपने सत्यों के सम्बन्ध में निश्चित होना है, सम्भवतः विनिमय की चालू

---

१. केन्स, इकनामिक जर्नल, जून १९२७, पृष्ठ २१२.

दरों के अनुसार परिवर्तित होने पर, आन्तरिक मूल्यों और मुद्रा वेतनों (Money Wages) का स्तर इंगलैंड में ऐसे कुछ देशों की अपेक्षा अधिक ऊँचा है जिनके साथ इंगलैंड के उत्पादकों तथा किसानों को सक्रिय प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। किन्तु यह तो सदा ही (यहां तक कि स्वर्ण-मान के नन्दनन्दनपूर्ण दिनों में भी) सत्य रहा है, यदि एक देश, दूसरे देश की अपेक्षा, प्राकृतिक साधनों, पूँजीगत वस्तुओं, मैनेजरों और कार्यकर्ताओं की व्यक्तिगत योग्यता के नाते श्रेष्ठतर है, अथवा शेष संसार पर उसके अपेक्षाकृत अधिक कानूनी दावे है, अथवा उसे अपेक्षाकृत कम उत्तरदायित्व चुकाने हैं तो इस देश मे एक घंटे का श्रम दूसरे देश के एक घटे के श्रम की तुलना में अधिक स्वर्ण का अधिकारी होगा और यह बात प्रत्यक्षत: वहाँ के मुद्रा वेतनों के ऊँचे स्तर में और कुछ परिस्थितियों में, अप्रत्यक्षतः आन्तरिक मूल्यों के कुछ ऊँचे स्तर में झलकेगी. अत: हो सकता है कि यह तथ्य कि नकद मजदूरी या आन्तरिक कीमतें इस समय इंगलैंड की अपेक्षा फ्राँस या बेल्जियम में कम हैं एक साधारण सीमा से अधिक स्थिरीकरण (stabilisation) के परिणाम स्वरूप न हों अथवा इसमें अंग्रेजी उत्पादक के लिए कोई बहुत ही अनुचित या असामान्य बाधा निहित न हो। सम्भवत: यह तथ्य तो अधिकतर इस बात का ही द्योतक है कि सामान्यत: फ्राँस और बेल्जियम वासी, अंग्रेजों की अपेक्षा, संसार की अच्छी वस्तुओं में समुचित भाग प्राप्त करने की दृष्टि से कुछ बुरी स्थिति में हैं। यदि नकद मजदूरियों के इन अन्तरों की पूर्ति पूर्णतः कार्यकर्ताओं की पारस्परिक व्यक्तिगत योग्यता के अन्तरों से हो जाय तो अंग्रेज उत्पादक को (जिसके उत्पादनों को फ्रांस अथवा बेल्जियम में बनी वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है) कोई शिकायत न रहेगी किन्तु यदि ऐसा न हो तो वस्तुस्थिति अंग्रेज उत्पादक के लिए असुविधाजनक हो सकती है तथापि सम्पूर्ण देशों के

दृष्टिकोण से दीर्घ अवधि में श्रेष्ठतम समाधान चिन्तित निर्यातक के लिए परिस्थितियाँ सुगम करना न होकर उसके विदेशी व्यापार की प्रकृति को परिवर्तित करना और कदाचित् उसका परिमाण कम कर देना है। यह मानने के समुचित कारण हैं कि हमारे प्रमुख निर्यात-व्यापारों (विशेषतः कोयला और कपास) की कठिनाइयां पूर्णतः अथवा मुख्यतः मौद्रिक अव्यवस्था के परिणामस्वरूप नहीं हैं, वे तो उनसे कहीं अधिक गंभीर और काबू में न आने वाले कारणों का फल हैं। यदि इन कठिनाइयों के परिणाम अत्यन्त भीषण होते हैं और उन्हें दूर करने के लिए पुनर्गठन का दीर्घकालीन और कठिन तरीका अपनाना आवश्यक हो जाता है तो हमारा यह कर्तव्य हो सकता है कि हम, सम्भव हो तो, मौद्रिक उपायों द्वारा इस पीड़ा को कम करने का प्रयत्न करें किन्तु हमें गर्वपूर्वक यह दावा नहीं करना चाहिए कि हम रोग की जड़ तक पहुँच गये हैं और हो सकता है कि इस प्रकार का कदम उठाकर हम उसके अविलम्ब निवारण में बाधक हो रहे हों।

दूसरे, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं होता, हमारे मनोभाव ही वस्तु-विशेष को अच्छा या बुरा बनाते हैं। पौंड के प्रस्तावित पुनर्मूल्य के विरुद्ध "सिक्का-प्रणाली की अद्योगति का वह समस्त स्वाभाविक भय भी पंक्तिबद्ध है जो कि ऐंगेविन और ट्यूडर नरेशों के प्रजाजनों की संचितियों में स्वभावतया उपस्थित है। सम्भवतः यह बात कुछ भली जान पड़े कि लेनदार (यहाँ मकानों और रेलों के मालिकों का तो उल्लेख भी नहीं किया जा रहा) जिन्होंने बहुत ही अनमने भाव से वस्तुओं के रूप में अपनी आमदनियां आधी हो जाने देना स्वीकार किया था। सोने के रूप में (जिसे कदाचित् ही उनमें से कोई खरीदना चाहता हो) अपनी आमदनी में १० प्रतिशत कमी होने के विचार मात्र से ही भड़क उठें किन्तु यदि वे ऐसा अनुभव करते हैं और यदि वित्त के धर्माधिकारी उन भावनाओं के प्रति सहानुभूति रखते हैं तथा वे ऐसा कोई भी उपाय

नष्ट कर डालने के लिए भी तैयार हैं जो उनके लिए अपमानजनक है तो ऐसे उपायों के लिए उस समय तक दबाव डालना उचित नहीं है जब तक कि उसकी आवश्यकता बहुत अधिक न हो और उस से होने वाले लाभ प्रत्यक्ष न हों। प्रस्तुत लेखक के मत से तो ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जब बैल के सींग पकड़ लेना अथवा लेनदार वर्गों का यह स्मरण करा देना कर्तव्य बन जाय कि उनके वायदे पौंड स्टर्लिंग की विधा में किये गये थे, स्वर्ण की विधा में नहीं, किन्तु १९२८ की इस शरद् ऋतु में तो वह इस प्रकार का साहस करने के लिए तैयार नहीं है।

अध्याय :: ८

व्यापार-चक्र का प्रश्न

(The Question of the Cycle)

एलिस ने सबसे प्रथम जिस कठिनाई का बोध किया वह थी राजहंस के साथ ······ज्यों ही उसने उसका सिर सीधा किया और जंगली चूहे के सिर पर वार करना चाहा, वह अपनी गर्दन घुमा कर एलिस की ओर देखने लगा।

—एंलसेज' एडवेंचर्स इन वंडरलैंड

§ १. **व्यापारिक तेजी में मुद्रा (Money in a Trade Boom)**— इस अध्याय में यह तो हम निश्चित मान लें कि इंग्लैंड और अन्य महत्वपूर्ण देश स्वर्ण मुद्रा मान को बनाये रखते हैं तथा स्वर्ण की विधा में अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन नहीं करना चाहते। केन्द्रीय बैंकों ने भी एकनिष्ठ प्रयत्न कर स्वर्ण के मूल्य को पर्याप्त रूप से नियंत्रण में रखा है जिसके फलस्वरूप स्वर्ण-तृष्णा के होने वाले छुट-फुट कार्यों के तीव्र प्रहारों तथा पूर्ति और मानव-स्वभाव की स्थितियों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों की व्यापक प्रक्रियाओं से उसकी रक्षा हो सके। मुद्रानीति के लिए तब क्या कोई बात पूरी करनी शेष रह जाती है ? हाँ, ऐसी बात है। इतिहास से हम पता चलता है कि उपरोक्त उथल-पुथल और आन्दोलन के अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य में भी तीव्र परिवर्तन होते रहते हैं, ये परिवर्तन अपेक्षाकृत थोड़े समय के लिए होते हैं किन्तु आकार-प्रकार में ये काफी बड़े होते हैं। यद्यपि व्यापक आन्दोलनों का इन पर प्रभाव रहता है, किन्तु

स्वभावत: ये उनसे स्पष्ट ही भिन्न होते हैं, और उन आन्दोलनों की भाषा में इनको समझा भी नहीं जा सकता।

मुद्रा के मूल्य में ये आवर्तन-प्रत्यावर्तन स्थूल रूप में उत्पादन, नियोजन और उपभोग (जन्म और दिवालियापन जैसी बातों का तो उल्लेख ही क्या करना है) के परिवर्तनों से सम्बद्ध होते हैं, और यदि हम इन सब का विश्लेषण करने लगें तो हम उन्हीं कठिनाइयों में फिर पड़ जाते हैं—कौन किसका कारण है, कौन किसका फल है। बहुत-सी मोटी-मोटी पुस्तकें इस विषय पर लिखी जा चुकी हैं और अभी भी हम इस विषय को पूर्ण रूप से समझ नहीं सके हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि पुराने किस्म का यूरोपीय व्यापार-चक्र, जिससे हम परिचित थे, जो सात से दस वर्ष के अन्दर आया करता था क्या भविष्य में फिर अपना अस्तित्व बनाये रखेगा? अमरीका ने अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी गति दिखाई है; वह दो-तीन वर्षों के बाद या उससे भी शीघ्र आने वाले व्यवसाय-चक्र को अधिक पसन्द करता है। यह तो हमारे लिये नितान्त असम्भव है कि इस छोटी-सी पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों में इस विषय पर अत्यन्त गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करें, किन्तु यह भी सम्भव नहीं है कि इस विषय की एक दम उपेक्षा की जा सके। सत्य तो यह प्रतीत होता है कि अतीत में स्वर्ण मुद्रा मान का प्रयोग इन चक्रों की गति को तीव्र करने के लिए किया गया है, अत: प्रश्न यह उठता है कि क्या इसका प्रयोग उन्हें नियंत्रित करने में नहीं किया जा सकता या नहीं किया जाना चाहिए।

हम यह अनुमान करें कि किसी कारणवश उद्योगपति उत्पादन की गति को बढ़ाने का निश्चय करते हैं, यह निश्चय किसी नये आविष्कार से लाभ उठाने के लिये, या उद्योग-व्यवस्था के किसी नये तरीके के प्रयोग के लिए या किसी नये देश में व्यापारिक सम्भावनाओं के कारण अथवा यों ही मन की तरंग और उतावलेपन के कारण किया जा सकता है[१]। इस निश्चय की पूर्ति के लिए पहला कदम होगा

१. शुम्पीटर, " दि एक्सप्लेनेशन आफ दि बिजनेस साइकिल," इक्नामिका, दिसम्बर, १९२७।

अस्थायी पूँजी की वृद्धि में गति लाना (अध्याय ५)। इसके लिए उद्योगपतियों को बैंकों से सहायता लेनी होगी और चूँकि अभिवृद्ध बचत के लिए शीघ्र उपलब्ध स्रोत सीमित ही होंगे उन्हें अपनी कुल आवश्यकता के उस अनुपात को भी बढ़ाना ही पड़ेगा जिसके लिए वे बैंकों पर निर्भर होंगे (अध्याय ५)। इस प्रकार बैंकों पर बहुत अधिक भार पड़ जाता है। और जहाँ तक बैंकों की बात है, वे इस भार को अभिवृद्ध मूल्यों एवं बलात् बचत के रूप में जनता के कन्धों पर डालने लगते हैं (अध्याय ५)। और जहाँ एक बार मूल्यों में वृद्धि होनी आरम्भ हुई, वह बल पकड़ती जाती है। मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने में जो शक्तियाँ काम करती हैं, जिनका अध्ययन हम मौद्रिक क्षय के युगों में कर चुके हैं (अध्याय ६), वे व्यापार की तेजी के दिनों में भी काम करती हैं, यद्यपि उस तीव्रगति से नहीं। मुद्रा का चलन-वेग बहुत तेज हो जाता है, मूल्यों में और भी अधिक वृद्धि की सम्भावना के कारण उद्योगपति कच्चे माल की माँग बढ़ाते जाते हैं, छोटे दुकानदार तैयार माल का परिमाण बढ़ाते जाते हैं, और एक विचारवान् उपभोक्ता भी एक नई मोटरकार या एक नये सूट को खरीदने के लिए जल्दी करता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक और विधवा को मुद्रा के मूल्य की अभिवृद्धि से चोट पहुँचती है, वे सोचते हैं कि बैंक में इतना जमा रखना कहाँ तक उचित है ? अतः मुद्रा के रूप में जनता की बचत की आम रुचि कुंठित होने लगती है और इसका कारण स्पष्ट है—मुद्रा की माँग में अत्यधिक अभिवृद्धि।

यदि इस तरह मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि से माँग को धक्का पहुँचता है तो माँग में कमी होने पर मुद्रा-पूर्ति की अभिवृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है (अध्याय ६)। मुद्रा का विनिमय मूल्य उसके आय-मूल्य से दूर हट जाता है, थोक माल का आदान-प्रदान उन मूल्यों पर होने

लगता है जो भविष्य में खुदरे माल के संभावित मूल्यों को ध्यान में रखते हैं। और तो और, थोक माल के लिए वे मूल्य बताये और बरते जाते हैं जिनका मुद्रा की सामयिक पूर्ति से सम्बन्ध नहीं होता, उन मूल्यों का लगाव उस समय के साथ होता है जबकि माल वस्तुतः छुड़ाया जायगा। यह बात नहीं कि लोगों ने बहुत-से नये लेन-देन के वायदे कर लिये हैं, इनके अतिरिक्त भी व्यापारी यह अनुभव करता है कि जितने सामान का वह पहले व्यापार किया करता था, अब उसके लिये उसे अधिक मुद्रा चाहिए, उद्योगपति यह अनुभव करता है कि अपनी आवश्यक वस्तुओं की खरीद के लिए और मजदूरों की मजदूरी के लिए अधिक मुद्रा चाहिए। और निस्सन्देह दोनों सहायता के लिए बैंकों के पास दौड़े हुए आते हैं। अतः बैंकों को अपने ऋणों का बढ़ता हुआ परिमाण मूल्य की वृद्धि का फल प्रतीत होता है, न कि उसका कारण। इसके विपरीत हमें ऐसा लगता है कि जिस विश्वास के साथ वे ऋणों का परिमाण विस्तार करते हैं वह मानों इतनी अधिक मूल्य-वृद्धि का आवश्यक कारण है और यदि वे ऐसा न करें तो कदाचित् मूल्य की वृद्धि अधिक काल तक ठहर भी न सके।

और यही सबकुछ नहीं है। व्यापारियों और खुदरे दुकानदारों के पास माल का ढेर लग जाने के कारण वस्तु के उत्पादन में अधिक समय लगने लगता है (अध्याय ५), और जैसे-जैसे उत्पादन की दर अपनी उस सीमा तक पहुँचने लगती है जो उपलब्ध परिस्थितियों में सम्भव है, उत्पादन काल में कितने ही कारणों से देर होने लगती है। यातायात की कठिनाइयाँ हैं, कच्चे माल के मिलने का प्रश्न है, और भी उत्पादन की अन्य प्रक्रियाएँ हैं। अतः व्यावसायिक जगत् की अस्थायी पूँजी के लिए माँग और बढ़ती जाती है और परिणाम यह होता है कि बैंकों पर और भी अधिक भार पड़ने लगता है।

बैंकों की उक्त माँगों को पूरा करने की क्षमता उस समय अपनी सीमा पर पहुँच जाती है जब उनके रिजर्वों की स्थिति चिन्ताजनक होने लगती है। किन्तु इस संकट तक पहुँचने के बहुत पहले ही जो बर्बादी होनी होती है, वह हो चुकती है। बुद्धिमत्ता तो यही है कि हम इस सम्बन्ध में अभी अपना निर्णय न दें कि क्या हमारी चिर-परिचित औद्योगिक प्रगति सर्वथा समगति से और उन माँगों में किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना ही जारी रह सकती है जो बचत के लिए बैंक-व्यवस्था द्वारा जनता से की जाती हैं। किन्तु इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यदि यह हेर-फेर अनिवार्यतः होने हैं तो उनके गौण परिणामों को नियंत्रग में रखना अत्यन्त आवश्यक है। मुद्रा के रूप में बचत को धक्का पहुँचता है, उत्पादन काल में जो कृत्रिम विस्तार आने लगता है, व्यापार की तेजी के क्रम में जो अनगिनत भविष्य के लेखे-जोखे की भूलें होती हैं वे अपने आप में तो बुराइयाँ हैं ही, किन्तु अपने साथ वे अन्य भीषण बुराइयों को भी जन्म देती जाती हैं। हमें मुद्रा-व्यवस्था से यह कहने का अधिकार है कि वह इन बुराइयों पर नियंत्रण रखे, न कि उन्हें प्रोत्साहन दे।

§२. **केन्द्रीय बैंक द्वारा नियंत्रण-व्यवस्था** (The Mechanism of Control by the Central Bank)—इस उद्देश्य के लिए किन अस्त्रों को काम में लाया जा सकता है ? जहाँ तक कठिनाई बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों तक सीमित है, और जहाँ तक ये बैंक रिजर्व सम्बन्धी नियमों का कड़ाई के साथ पालन करते हैं, इस बुराई को केन्द्रीय बैंक रोक सकता है—यह इस बात पर निर्भर करेगा कि केन्द्रीय बैंक कितनी दूर तक सामान्य बैंकों की चैकरी को नियंत्रित रखने में सफल होता है। अतः स्वर्ण की उच्छृंखलता को रोकने के लिए इसके पास जो अस्त्र है (अध्याय ७), वह मुद्रा के मूल्य की उच्छृंखलता को रोकने के लिए भी काम में लाया जा सकता है। यह अस्त्र क्या है, इसे और स्पष्ट शब्दों में अब प्रकट किया जा

सकता है। यह अस्त्र एक दुधार कुठारा है, इसकी पहली पैनी धार इसमें निहित है कि जनता की सरकारी प्रतिभूतियाँ बेची जावें। यदि बैंक आफ इंगलैंड जान स्मिथ को एक हजार पाउन्ड का युद्ध-पावना बेचता है, तो जान स्मिथ बैंक आफ इंगलैंड को बार्कलेज के नाम (उदाहरण के लिए) एक हजार का चैक काट कर देगा, और बैंक आफ इंगलैंड अपने पास जमा बार्कलेज की चेकरी में एक हजार पाउन्ड की वृद्धि कर देगा। किन्तु इससे बार्कलेज के रिजर्व और निक्षेपों के अनुपात में गड़बड़ पड़ जावेगी, और उस अनुपात को संतुलिप्त करने के लिए उसे अपने ऋण घटाने पड़ेंगे। इसके विपरीत (अ० ६) पर उल्लिखित प्रक्रिया के विरुद्ध बैंक आँफ इंगलैंड यदि एक हजार पाउन्ड का युद्ध-पावना बेचता है, तो देश के कुल बैंक-जमा में उस परिमाण की नौ गुनी कमी होगी।

यह धार बहुत पैनी है, और आधुनिक वर्षों में इंगलैंड तथा अमेरिका में इसका काफी कलात्मक प्रयोग हुआ है। किन्तु सभी अवसरों पर इसकी धार पर्याप्त तीक्ष्ण नहीं होती। अमेरिका में तो यह साधारण बात है कि एक सामान्य बैंक रिजर्व बैंक से ऋण ले (अ० ३), और इंगलैंड में यह प्रथा है कि कुछ वर्गों के उधार लेने वाले, जैसे वे जो विदेशी व्यापार का वित्त-पोषण करते हैं, बैंक आफ इंगलैंड पर कष्ट के समय निर्भर रहते हैं। अतः अमेरिकन बैंक के रिजर्व जब इस प्रकार घटने लगते हैं, तब वह अपनी क्षतिपूर्ति रिजर्व बैंक के ऋण द्वारा कर लेता है। इसी प्रकार जब किसी ब्रिटिश बैंक की यह अवस्था होती है तब कुछ ऋण लेने वाले, जिनकी मांग की पूर्ति करने में वह असमर्थ होता है, बैंक आफ इंगलैण्ड से चेकरियाँ खोलने का अनुरोध करते हैं, इन चेकरियों के आधार पर जो चैक काटे जाते हैं, वे सामान्य बैंकों में जमा करा दिए जाते हैं, और इस प्रकार बैंक आफ इगलैंड में स्थित उनकी चेकरियाँ फिर अभिवृद्ध हो जाती हैं।

इन आक्रमणों से बचने के लिए बैंक आफ इंगलैंड दूसरे धार का प्रयोग करने पर बाध्य होता है। ऋण पर ब्याज की दर वह बढ़ा देता है—अमेरिका में अन्य बैंकों के लिए तथा इंगलैंड में उन लोगों के लिए जो विदेशी व्यापार में रकम लगाते हैं। इंगलैंड में बैंक दर बढ़ने से उधार लेने वाले बैंक ऑफ इंगलैंड से विमुख हो जाते हैं, और इस प्रकार बैंक ऑफ इंगलैंड में स्थित अन्य बैंकों की चेकरियाँ अभिवृद्ध होने से बच जाती हैं। अमेरिका में इस फल की संभावना पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। यह विचार किया जा सकता है कि कुछ सौदे उनमें निहित असुविधा और जोखिम को ध्यान में रखते हुए, व्यापार-विनिमय जो बैंकों के लिए बस तब लाभप्रद मात्र थे जब उन्हें किसी निश्चित दर पर रिजर्व बैंक से ऋण मिल जाता था, अब ऊंचे दर पर उधार मिलने के कारण लाभप्रद नहीं रहेंगे, इस प्रकार उधार लेने की उनकी उत्सुकता कम हो जावेगी, और रिजर्व बैंक का उनकी चेकरियों को किसी भी अवस्था में कम करने का निर्णय अशाँति-पूर्ण हो जावेगा। जिस सीमा तक एक बैंक अपने रिजर्व का अतिक्रमण कर अपने पावनों को बढ़ाता है, जैसा कि बैंकिंग व्यवस्था समग्र रूप से करती ही है, उस सीमा तक इस तर्क में उतनी शक्ति नहीं रहती।[1]

अनुभव हमें बताता है कि यदि केन्द्रीय बैंक की ब्याज-दर बहुत ऊँची होती हैं तो साधारण बैंकों की ब्याज की दर भी ऊँची चढ़ जाती है। ऐसा ठीक-ठीक किस कारण होता है, इसे भली प्रकार नहीं समझाया जा सकता। अमेरिका के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि यदि बैंकों को स्वयं लिये गये ऋणों पर अधिक देना पड़ता है, तो जो रकम वे उधार देंगे, उसके लिए वे स्वभावतः अधिक ब्याज चाहेंगे। किन्तु इस तर्क में वही कमजोरी

---

१. जे. एस. लारेंस, बारोड रिजर्वस एण्ड बैंक एक्सपेन्शन, क्वार्टरली जर्नल आफ इक्नामिक्स, अगस्त, १९२८।

है । जहाँ तक इंगलैंड का प्रश्न है, इस तर्क का कोई अर्थ नहीं रहता कारण, वहाँ बैंक बैंक आफ इंगलैंड से ऋण नहीं लेते । फिर वे अपने दर क्यों बढ़ा लेते हैं, इसका एक ही कारण नजर आता है; वह है अतीत से चली आई प्रथा का जोर—वे यह समझते हैं कि बैंक ऑफ इंगलैंड उनसे इसी प्रक्रिया की आशा रखता है, और उन्हें यह भी विश्वास है कि बैंक आँफ इंगलैंड अकारण दर नहीं बढ़ाता और शायद अमेरिका में भी सब से महत्त्वपूर्ण कारण इसी प्रकार का कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य है ।

यदि व्याज दरों की वृद्धि के कारणों का लेखा देने में हम इतनी सावधानी बरतना चाहते हैं तो, हमें मुद्रा-पूर्ति को संकुचित करने वाले इसके प्रभाव को भी सावधानी से व्यक्त करना चाहिए । इस प्रचलित मंतव्य पर प्रश्न करने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि बैंकों से उधार लेने के इच्छुकों पर प्रतिवन्ध लगाने के कारण बैंकों के पावनों और अतः उनके निक्षेपों को कम करने में सरलता होती है । किन्तु इंगलैंड में बैंक सभी अवस्थाओं में अपने रिजर्व और निक्षेप के बीच एक निश्चित अनुपात बनाये रखते हैं । अतः अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि वहाँ ब्याज-दर की वृद्धि एक यंत्र-मात्र है जिसके द्वारा निक्षेपों के परिमाण-सम्बन्धी निर्णय लागू किये जाते हैं—ये निर्णय अन्य बातों उदाहरणार्थ उनके रिजर्वों के परिमाण पर आधारित होते हैं

अमेरिका में स्थिति थोड़ी भिन्न है । यदि बैंकों के रिजर्व अंशत रिजर्व बैंक से ग्रहण किए जाते हैं, तो यह असम्भव नहीं है कि सामान्य स्थिति के अनुसार ब्याज-दर में वृद्धि पहले होगी फिर पावनों और निक्षेपों में ह्रास होगा, और तत्पश्चात् रिजर्व बैंको को पावनों का पुनर्भुगतान जिसका परिणाम होगा साधारण बैंकों के रिजर्वों में कमी । इस अवस्था में ब्याज-दर की वृद्धि को एक अर्द्ध-स्वतन्त्र व्यापार माना जा सकता है जिससे केन्द्रीय बैंक की नियामिका क्रिया को सहायता मिलती है—इसे आप चाहें तो कुठारे की तीसरी धार कह सकते हैं । किन्तु इसे बैंकों

का वह प्रयोग मानने में अधिक सुविधा होगी जो अन्य दो धारों द्वारा आरोपित नियामिका क्रिया में सहायक होता है, वे अन्य दो धारें हैं—प्रतिभूतियों का विक्रय और केन्द्रीय बैंक-दर में वृद्धि । ये दो धारें अमेरिका में कुंठित हो जाते हैं । कारण, वहाँ बैंक रिजर्व उधार ले सकते हैं । अत: तीसरे धारे पर वहां अधिक सहायता के लिए निर्भर नहीं रहा जा सकता ।

इन कठिन प्रसंगों पर इस छोटी-सी पुस्तक से पाठक की और अधिक जानकारी की आशा नहीं करनी चाहिए, और न लेखक को ही इससे अधिक लिखने का प्रयत्न करना चाहिए । इतना समझना पर्याप्त है कि इस दुधारे अस्त्र से केन्द्रीय बैंक कुछ सीमा तक मुद्रा-पूर्ति की अभिवृद्धि को रोक सकते हैं; और यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि बैंक सभी परिस्थितियों में इस विषय में पूर्ण सफल हो सकते हैं, किन्तु फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि समय रहते इसका प्रयोग किया जाय और कुछ संकल्प-निष्ठा बरती जाए तो व्यापारिक तेजी की बहुत-सी बुराइयाँ यथासमय रोकी जा सकती हैं ।

§ ३. **बचत के लिए प्रोत्साहन** (The Stimulation of Saving)—ब्याज-दर की वृद्धि से व्यापार उद्वेलन पर दो प्रकार के प्रभाव और पड़ते हैं, जिनमें से एक तो केन्द्रीय बैंक की नीति के सामने परेशानी उपस्थित कर देता है, और दूसरा उस नीति की सहायता करता है । दोनों का उद्‌गम इसी तथ्य से है कि व्याज-दर की वृद्धि उन दरों तक सीमित नहीं है जिन पर बैंक उधार देंगे, किन्तु उसका विस्तार उन दरों तक भी है जो बैंक अपने निक्षेपकों को देते हैं । यह सत्य है कि इंगलैंड में बहुत से लोग अपने चालू खाते पर ब्याज प्राप्त करने में सफल नहीं होते, किन्तु निक्षेप खातों पर, जिनमें से सात दिन के नोटिस पर रकम निकाली जा सकती है, ब्याज पाने के अधिकारी हैं—यह दर बैंकों के पारस्परिक समझौते के आधार पर बैंक-दर से दो प्रतिशत कम होती है । जब बैंक-दर में वृद्धि होती है, तब इस में भी

वृद्धि होती है। जिन निक्षेपों को निकालने में अधिक नोटिस की आवश्यकता होती हैं, उन पर अधिक ब्याज मिलता हैं। अधिकतर तब जब उन निक्षेपों के मालिक विदेशी होते हैं।

अब यदि ब्याज-दर इंगलैंड में बढ़ जाय, उदाहरण के लिए फ्रांस की तुलना में, तो उधार देने के लिए इंगलैंड अच्छा देश हो जाता है, पर उधार लेने के लिए बुरा देश। फ्रांस वाले ब्रिटिश मुद्रा को पाने के लिए उत्सुक होने लगेंगे और जिन फ्रांसीसियों के पास ब्रिटिश मुद्रा होगी वे उसका त्याग नहीं करना चाहेंगे। इसके अतिरिक्त जो अंग्रेज लेना चाहेंगे, वे इंगलैंड में उधार न लेकर फ्रांस में उधार लेना पसन्द करेंगे और ब्रिटिश मुद्रा की एवज में मिले हुए फ्रांसीसी मुद्रा के पावनों को वे अपना व्यवसाय चलाने के लिए बेच डालेंगे। इस प्रकार विनिमय-दर फ्रांस के प्रतिकूल इंगलैंड के पक्ष में हो जावेगी। स्वर्ण भाव के अन्तर्गत तो यह इस अवस्था तक पहुँच सकता है कि फ्रांस से इंगलैंड सोना भेजना ब्रिटिश मुद्रा के प्रति पावनों को खरीदने से अधिक सस्ता बैठे।

विदेशों से स्वर्ण खींचने का आकर्षण केन्द्रीय बैंकों को पिछले युगों में ब्याज-दर बढ़ाने के लिए उत्साहित करता रहा है, विशेषकर व्यापार उद्वेलन के अन्तिम चरणों में। उद्वेलन काल में जो अभिवृद्ध मुद्रा लोगों के हाथ लग जाती है उससे विदेशी व्यापार की वस्तुओं पर उनका अधिकार बढ़ जाता है, इससे निर्यात घटता है और आयात को प्रोत्साहन मिलता है, विनिमय-दर देश के विपक्ष में ही जाती हैं और अन्ततः सोने का प्रवाह देश से बाहर की ओर होने लगता है। केन्द्रीय बैंक के सामने तब ब्याज-दर की वृद्धि ही इन बुराइयों से बचने का मार्ग रह जाता हैं। इस वृद्धि से वह पूर्व स्थिति को लाने का प्रयत्न करता है, और इस प्रकार अपने सीमित उद्देश्य को पूर्ण करने में सफलता पाता है। किन्तु अब हम एक ऐसी स्थिति का अनुमान करना चाहते हैं जिस में केन्द्रीय बैंक व्यापार-उद्वेलन के आरम्भिक चरणों में ही इन बुराइयों को रोकने का प्रयत्न करने के लिए तत्पर हो जाता है। इस स्थिति में

विदेशी स्वर्ण को आकर्षित करने के लिए अभिवृद्ध व्याज-दर का प्रभाव केन्द्रीय बैंक की उद्देश्य-पूर्ति के मार्ग में रुकावट पैदा कर सकता है। कारण, जिस समय केन्द्रीय बैंक बैंकों की चैकरियों को कम करने का प्रयत्न कर रहा होगा, उस समय सोने के आयात का प्रभाव उनको अभिवृद्ध करने लगेगा। अतः बैंक को अपने प्रयत्न में अधिक जोर लगाना पड़ेगा। जहाँ तक इस विषय का प्रश्न है, यह इस पक्ष में नहीं है कि ब्याज-दरों के ब्लेड अस्त्र का प्रयोग किया जाय, कम से कम उस समय तक जब तक कि प्रतिभूतियों की विक्रय का ब्लेड अस्त्र काम में लाने योग्य न हो जाय।

निक्षेप दरों की वृद्धि पर भी आपत्ति उठाई जा सकती है, किंतु इतनी अधिक नहीं। यह वृद्धि लोगों को अपनी चेकरी का चलन वेग कम करने के लिए आर्कषित करती है। जिन लोगों का हिसाब चालू खाते में होता है, उन्हें उसे निक्षेप खाते में बदलने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। जिनका हिसाब निक्षेप खाते में है और जो या तो इसे बना रहने देते अथवा इसका भुगतान उन लोगों को कर देते जो उसे चालू खाते में रखते, उन लोगों को इस रकम का प्रयोग औद्योगिक कम्पनियों के हिस्से खरीदने में करने से हतोत्साहित किया जा सकता है।

बैंकर यह समझेंगे कि उन्होंने दरों में जो वृद्धि की है, उसी कारण निक्षेपों का कुल परिमाण बढ़ रहा है। हमें अच्छी तरह मालूम है (प्र० ४) कि बात ऐसी नहीं है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि निक्षेपकों की इस क्रिया से वास्तविक बचत में अवश्य वृद्धि होती है। लोग इस बचत को स्वतः बैंकों के द्वारा उद्योग–धन्धों की सेवा में पहुँचा देते हैं। अतः यदि इससे उद्वेलित व्यापार की ज्वाला बुझाई नहीं जा सकती, तो कम से कम उसके प्रकोप को शान्त करने के लिए वह कुछ प्रयत्न तो अवश्य ही करता हैं। मूल्यों की वृद्धि को इससे उत्तेजना नहीं मिलती जैसे कि सोने के आयात से मिलती है। इस कार्य के लिए हमें नाक-भौं नहीं सिकोड़ना चाहिए।

इस सम्बन्ध में हमें बैंकों के एक और कार्य-व्यापार के प्रभाव को समझ लेना चाहिए। यह क्रिया प्रायः व्यापार-उद्वेलन के समय बैंकों द्वारा होती है। उधार देना लाभप्रद देख वे कुछ सरकारी प्रतिभूतियाँ जनता को बेच देना वांछित समझने लगते हैं, और इस तरह अपने उधार-व्यापार को बढ़ाना चाहते हैं। जन-साधारण की चेकरियाँ विनि-योग के क्रय से जितनी कम होती हैं, वे उधार की राशि पर होने वाले खर्च से उतनी ही बढ़ जाती हैं। अतः बैंकों के निक्षेपों के परिमाण में कोई वास्तविक अन्तर नहीं आता। मूल्यों में वृद्धि की आवश्यकता इस से परिपूरित होती है अथवा नहीं, यह इस पर निर्भर करेगा कि जनता प्रतिभूतियाँ खरीदते समय अधिक राशि बचाने पर भी ध्यान दे रही थी, अथवा चेकरी के रूप में बचत के स्थान पर सरकारी प्रतिभूतियों की रूप में बचत को अपना रही थी। यदि दूसरी स्थिति सत्य है, तो यह सारा व्यापार सोने के आयात की तरह बैंकों की सहायता करने का एक तरीका मात्र है जिससे वे अपने रिजर्व और निक्षेपों के अनुपात का कोई ध्यान न रख जनता को बचत के लिए बाध्य कर सकें। किंतु यदि पहली स्थिति सत्य है तो बैंक अस्थायी पूंजी के रूप मे निहित अपने अधीनस्थ साधनों का परिमाण बढ़ाकर उन साधनों की सहायता पर आधारित अस्थायी पूंजी के अनुपात की वृद्धि का शोधन कर सकते हैं। (देखिए अध्याय ५ खण्ड ८ और परिशिष्ट ख)।

§ ४. **बैंक ऋणों पर गुणात्मक नियंत्रण** (The Qualitative Control of Bank Loans)–नियंत्रण के जिन उपायों का अब तक विवेचन किया गया है वे केवल केन्द्रीय बैंक से उत्प्रेरण एवं जन-सेवा की अपेक्षा रखते हैं, साधारण बैंकों से तो बस इतना ही अनुरोध किया जाता है कि वे सजग आत्म-हित की उस प्रेरणा का पालन करें जो सामाजिक रीति-प्रथाओं से अनुप्राणित है। लोगों की धारणा साधारणतः यही है कि इतना चाहना पर्याप्त है, फिर, दुनिया की आज जो स्थिति है और विशेषतः अमरीका की जहाँ छोटे-मोटे बैंकों की बहुत अधिक

संख्या है और जो इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, इससे अधिक मांग रखना कोई अर्थ भी नहीं रखता। इतना होते हुए भी इसकी विरोधी धारणा के सम्बन्ध में भी कुछ कहा जा सकता है। इंगलैंड में बैंक अंशतः सार्वजनिक संस्थाएँ हैं। उनके पास काफी अधिकार हैं, उन्हें अपने उत्तरदायित्व का भी पर्याप्त ज्ञान है, क्या उनसे यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि वे अपने उधार व्यापार के **परिमाण** के साथ-साथ उसके **गुणात्मक** रूप पर उचित ध्यान रखें और इस हेतु उनमें पारस्परिक सहयोग हो? व्यापारिक तेजी को शान्त करने में इस प्रकार के अधिक सक्रिय हो कर काम कर सकेंगे।

अमरीका में, और कुछ उन देशों में जहाँ का विधान अमरीका के विधान के अनुरूप है, इस दिशा में प्रयत्न हुआ है कि यह कार्य भी आंशिक रूप में केन्द्रीय बैंक के द्वारा संचालित हो। जब एक अमरीकन बैंक रिज़र्व बैंक से उधार लेता है तो उसे उसके लिए सरकारी प्रतिभूतियों अथवा व्यापारी-समाज के तेजी से परिपक्व होने वाले उत्तरदायित्वों को (जो उन वास्तविक वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो उत्पादन के किसी दौर में होती हैं) न्यास के रूप में रखना पड़ता है। इस दूसरी कोटि में जो कागज़-पत्र आते हैं वे रिज़र्व बैंकों द्वारा अपने उन नोटों के एवज़ में रख लिये जाते हैं जिनके बदले सोना नहीं रखा होता। इन नियमों का लक्ष्य यही रहा है कि रिजर्व बैंकों की सहायता से जो ऋण संचरित किये जाते हैं उनका प्रयोग केवल अस्थायी पूंजी के लिए किया जाय और लोग तो यहां तक कहते थे कि जब तक इस ध्येय की पूर्ति होती है तब तक इस प्रणाली को अत्यधिक मुद्रा-सृजन के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।[1] व्यापार की आवश्यकताओं के सिद्धान्त में जो सैद्धान्तिक कमजोरी है वह इस विधान में अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। इस कमजोरी के सम्बन्ध में पाँचवें अध्याय में काफ़ी कहा जा चुका है।

---

१. रिपोर्ट आफ़ दि फ़ेडरल रिज़र्व बोर्ड फ़ार १९२३, पृष्ठ ३४।

जिस बात पर हम इस समय बल देना चाहते हैं वह यह है कि उक्त विधान के लक्ष्य की पूर्ति कभी नहीं हो पायी। सरकारी प्रतिभूतियों और यथार्थ व्यावसायिक पत्रों (Commercial Papers) को एक ही स्तर पर रखना वैषम्यपूर्ण है किन्तु इसके अतिरिक्त अनुभव यह भी बताता है कि बैंकों के लिए निर्धारित ढंग से रिज़र्व बैंक से उधार लेना आसान है और इस तरह उन्हें जो रिज़र्व-राशि उपलब्ध होती है उसके बल पर वे औद्योगिक प्रतिभूतियों में अधिक रकम लगा सकते हैं अथवा स्टाक विनिमय में भाग लेने वालों को अधिक रकमें उधार दे सकते हैं और यह तो अब प्रायः सभी मानने लगे हैं कि रिज़र्व बैंक साधारण बैंकों की उधार देने योग्य राशि की संचालन विधि (राशि की कुल रकम की बात हम नहीं करते) पर बहुत कम प्रभाव डाल सकता है।[1]

जहां तक इंगलैंड की बात है, यह और भी अधिक स्पष्ट है कि यदि मुद्रा के प्रयोगों में गुणात्मक भेद करना वांछनीय है तो इस ध्येय की सिद्धि के लिए हमें साधारण बैंकों का सहारा लेना पड़ेगा। इसमें तो संदेह नहीं कि कुछ सीमा तक इस प्रकार का भेद सदैव बरता गया है। यह सत्य है कि बैंकर उधार लेने वाले उन व्यक्तियों के पक्ष में अधिक होते हैं जिनकी कार्य-क्षमता और व्यावसायिक प्रगति में उन्हें विशेष आस्था होती है। यह भी असंदिग्ध है, जैसा कि उनके एक नेता ने हमें बताया है[2] कि छः मास का अथवा अल्पकालीन ऋण उनके व्यवसाय का आज भी मेरुदंड है और उनकी यह इच्छा कि उनके ऋण नियमित रूप से शनैः शनैः चुका दिये जायं इसी दिशा में काम करती है कि उनके साधनों का प्रयोग विशेषतः अस्थायी मुद्रा की सृष्टि करने में हो। इतना होते हुए भी ब्रिटिश बैंक व्यवस्था की दो बातें ऐसी हैं जिन पर यहां सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक है।

१. बरगैस, दि रिज़र्व बैंक्स ऐंड दि मनी मार्केट, पृष्ठ १७९।
२. लीफ, बैंकिंग, पृष्ठ १६४।

पहली बात की ओर तो हम संकेत कर भी चुके हैं (अध्याय ६) बहुत से मामलों में—और ऐसे मामले कितने हैं हमें कोई पता नहीं बैंकर का प्रधान लक्ष्य यह जानना होता है कि उसका ग्राहक गांठ का भी धनी है या नहीं, उसके पास कोई स्थावर सम्पत्ति या स्टाक विनिमय प्रतिभूति भी है या नहीं जिसे उसकी ऋण-शोध की अक्षमता पर बेचा जा सके। इस चेष्टा का ऋण लेने वाले के उद्यम से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। इस योजना के कुछ लाभ अवश्य हैं:--एक तो यह कि मुद्रा सिर्फ साहसिकों अथवा 'मिट्टी के माधो' के पास जाने से रुक जाती है और दूसरा यह कि यह प्रणाली रुद्ध भवन प्रणाली ("Tied House" System) अथवा उस प्रणाली पर नियंत्रण रखती है जिसमें बैंकिंग और औद्योगिक स्वार्थों के सूक्ष्म तार परस्पर गुंथे रहते हैं। कुछ देशों में तो यह प्रणाली इतनी आगे बढ़ गयी है कि समस्त उद्योग वित्तीय प्रभुत्व के अधीन आ गया है किन्तु व्यापार चक्र के नियंत्रण की दृष्टि से इस बैंक व्यवस्था की कुछ अपनी त्रुटियां भी हैं क्योंकि बैंकर इस ओर अधिक ध्यान नहीं देता, इसे वह अपना क्षेत्र भी नहीं मानता—कि वह जो ऋण दे रहा है उसे किस प्रकार प्रयुक्त किया जा रहा है अथवा उसका मुद्रा के मूल्य एवं व्यापार की स्थिरता पर क्या प्रभाव पड़ रहा है।

§५. **ब्याज--दर का दक्षतापूर्ण प्रयोग** (The Manipulation of the Rate of Interest)–ब्रिटिश बैंकरों के सम्बन्ध में दूसरी बात जिस पर सावधानी से ध्यान देना आवश्यक है वह है ब्याज--दर की वृद्धि में उनका अत्यधिक विश्वास। वे सोचते हैं कि दर अधिक होने से ऋण की मांग कम हो जायेगी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस साधन के महत्व को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा कर कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह भी एक आश्चर्य से कम नहीं होगा यदि इसके द्वारा ऋण की मांग ठीक उस परिमाण तक सीमित हो जाय जिसे बैंकर अपने रिज़र्वों की राशि का ध्यान रखते हुए प्रति सप्ताह पूरा

कर सकें। फिर भी इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि अपने कार्य के व्यापार में वे इससे सहायता पाने की आवश्यकता रखते हैं, और ऐसा वे क्यों करते हैं इस के पक्ष में एक सामान्य और दो विशेष कारण दिए जा सकते हैं। सामान्य कारण तो यह है कि इस तरीके के द्वारा उपलब्ध साधन व्यापारियों के हाथ में पहुंच जाते हैं। बैंक यह निश्चय करते हैं कि कितनी कुल राशि ऋण देनी है, व्यापारी यह निश्चय करते हैं कि इस राशि का कैसे प्रयोग किया जाय। व्यापारिक समाज अपने-अपने विषय के विशेषज्ञों और अनुभवी व्यक्ति का समूह होता है, दूसरी ओर बैंक सामान्य रूप से सभी विषयों का ज्ञान रखता है। अतः समाज के परिमित साधनों का सबसे अच्छा प्रयोग किस तरह होगा, इस सम्बन्ध में बैंक की धारणाएं व्यापारियों की धारणाओं से अधिक महत्वपूर्ण होंगी। ब्याज दर की वृद्धि से ऋण लेने वाले उन व्यापारियों का उत्साह मारा जाता है जब वे यह देखते है कि एक ओर तो उन्हें अधिक ब्याज देना पड़ता है, दूसरी ओर जनता उनके माल से उदासीन है। यह एक ऐसा कारण है जो काफी महत्वपूर्ण है।

जो दो विशेष कारण हैं वे ऋण के दो प्रकारों से सम्बन्ध रखते हैं। ये ऋण व्यापार की तेजी के समय भविष्य की कठिनाइयों के बीज विशेषतः बो देते हैं और उन कठिनाइयों से बचने के लिए ब्याज की वृद्धि, ऊपर-ऊपर से देखें तो, उचित साधन प्रतीत होती है। प्रथम तो वे ऋण हैं जो वे सट्टेबाज लेना चाहते हैं जो मूल्यों के बढ़ने की सम्भावना देखकर माल इसीलिए खरीदना चाहते हैं ताकि उसे ऊँचे भाव पर बेचकर लाभ उठायें। सट्टेबाजी के नैतिक अथवा अर्थ-शास्त्रीय पक्ष का विवेचन करना सामान्यतः इस पुस्तक की सीमा के बाहर की बात है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि जिस वस्तु की पूर्ति की भविष्य में कम होने की सम्भावना है, उसके सम्बन्ध में सट्टेबाजी करने से समाज को प्रासंगिक रूप से कुछ लाभ अवश्य होता है किन्तु १९१९-

२० की शीत ऋतु में जिस प्रकार की सट्टेबाजी हुई उससे समाज को कोई लाभ नहीं होता, वह तो औद्योगिक मंदी को ही प्रश्रय देती है। वह सट्टेबाजी भी क्या थी—साधारण वस्तुओं, यहाँ तक कि उत्पादन के उपकरणों, जैसे कपड़े के कल कारखानों के सम्बन्ध में सट्टेबाजी—चढ़ते हुए मूल्यों तथा अभिवृद्ध बैंक ऋणों से प्रसूत सट्टेबाजी। सट्टे-बाजों को अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए जो कीमत चुकानी पड़ती है उसे बढ़ाकर बैंकर उनका मुनाफा कम कर सकते हैं और इस प्रकार इस ढंग के सौदों की संख्या कम की जा सकती है।

दूसरे प्रकार का ऋण जिस पर व्यापारिक तेजी के समय ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है स्वभावतः अधिक श्रेयस्कर है किन्तु उसके परिणाम कभी-कभी कम घातक नहीं होते। यह वह ऋण है जो स्थायी पूँजी का निर्माण करने में लगाया जाता है (इसे उद्योगपति अपने हित में जैसे कपड़े के कारखाने का मालिक अपने कारखाने के विस्तार में लगा सकता है) और बाजार में वेचा भी जा सकता है (यहाँ बेचने के लिए बनाये जाने वाले जहाजों का उदाहरण दिया जा सकता है)। इन ऋणों से भले ही अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो जाय किन्तु बाजार में वे तत्काल उपभोग्य वस्तुएँ नहीं ला पाते अतः जनता को बचत करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और ऋणों का यह प्रभाव उपभोक्ताओं के लिए बहुत कष्टकर होता है। इसके अतिरिक्त, इसी क्षेत्र में भ्रांत धारणाओं एवं गलत अनुमानों तथा निर्णयों की आशंका सबसे अधिक रहती है। इस क्षेत्र में जो उद्योग आते हैं उन्हें फलप्रद होने में बहुत समय लगता है, और इस कारण व्याज-दर का प्रश्न उनके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। जब हम यह देखते हैं कि यंत्रसाधन उद्योगपति के पास हैं और उन्हें लगाने के लिए उसने बैंक से जो ऋण लिया उसका ब्याज वह अब भी दिए जा रहा है तो इस प्रश्न के महत्व को हम आसानी से समझ सकते हैं। किन्तु यदि यंत्र-

साधन और किसी को बेच दिया जाय तब भी यह प्रश्न अपना महत्व नहीं खोता। इस यंत्र-साधन का कितना मूल्य बैठेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि यदि खरीदने वाला अपनी रकम को यंत्र-साधन के अतिरिक्त और किसी वस्तु में लगाए तो उसे कितना ब्याज मिलेगा। सामान्यत: ब्याज-दर में वृद्धि इस मूल्य को कम करती है और इस प्रकार इस यंत्र-साधनों के विक्रय को प्रोत्साहन नहीं देती। अत: प्रत्येक दिशा में ब्याज-दर में होने वाली वृद्धि समाज के तैयार साधनों का झुकाव ऐसे क्षेत्रों की ओर करने में कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालती है जहाँ वे अधिक आसानी से अपना तबादला कर सकें और समाज को उससे अधिक साधन एक सुदूरस्थ लाभ के लिए विनियोजित करने से रोक दे जितने कि वह वास्तव में नियोजित कर सकता है।[1]

§ ६. **बैंक ऋणों का नियमन** (The Rationing of Bank Loans) —बैंक ऋणों के परिमाण को नियमित करने के लिए ब्याज-दर की मात्रा पर लोगों का जो अत्यधिक विश्वास है उसके पक्ष में ये तर्क दिए जा चुके हैं किन्तु उन्हें अन्तिम रूप से स्वीकार करने के पूर्व कुछ और विचार कर लेना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि यह सम्भव नहीं है कि ब्याज-दर का उतार-चढ़ाव उपर्युक्त दो विशेष उद्देश्यों में से किसी एक की भी पूर्णत: पूर्ति करता हो। यह बात दूसरी है कि उनका इतना विस्तार हो जाय कि सामान्य गैर सट्टेबाज व्यापारिक जनता के लिए वह असह्य बन जाय। जब एक बार सट्टेबाजी की प्रवृत्ति काम करने लगती है तो उसे आसानी से दूर नहीं किया जा सकता। जो आदमी रूई की कुछ गांठों अथवा तेल के कुछ कनस्तरों को कुछ महीने न बेचकर प्रतिशत कुछ मुनाफा कमाना चाहता है वह बैंक को दी जाने वाली ब्याज-दर में सालाना एक या दो प्रतिशत वृद्धि होने से पीछे नहीं हटेगा। यदि मुद्रा का मूल्य तेजी से गिर रहा है तो १० प्रतिशत

१. तुलनीय : कैसल, मेमोरेंडम फार ब्रसेल्स कान्फ्रेन्स, पृष्ठ २३।

की मौद्रिक ब्याज-दर भी वास्तव में नगण्य से भी कम रह सकती है, क्योंकि बैंक को वह जो ११० पौंड देगा उसका कुल मूल्य उन १०० पौंडों से कम हो सकता है जो उसने पिछले वर्ष ऋण स्वरूप लिया था, दूसरे जिन निर्माण योजनाओं को आज कार्यान्वित किया जा रहा है उनके सम्वन्ध में ठीक-ठीक भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और न उनकी आज की लागत से तुलना की जा सकती है। जिन लोगों ने यह संकल्प कर लिया है कि दुनिया को वास्तव में एक चेनल टनल (Channel Tunnel) अथवा रेल-व्यवस्था के विद्युतीकरण अथवा ज्वार-भाटों की शक्ति का उपयोग कर सकने वाले संयंत्र की आवश्यकता है, उन्हें आप आसानी से अपने निश्चय से नहीं डिगा सकते। अतः ब्याज-दर के हल्के उतार-चढ़ाव को, उसका प्रभाव अधिक गंभीर बनाने के लिए, बैंक ऋणों के सीधे नियमन (Rationing) द्वारा पूरित करना आवश्यक है; और यदि बेंक-ऋणों का सम्यक् गुणात्मक नियंत्रण हो जाय तो कदाचित् उनकी मात्रा पर इतना कठोर नियंत्रण रहना आवश्यक ही न रहे।

दूसरे, "एक व्यापारी पर विश्वास कीजिए" इस कथन में निहित तर्क की उतनी ही सावधानी से परख कर लेना आवश्यक है जितनी, राजनीति के क्षेत्र में, "उपस्थित व्यक्ति पर विश्वास कीजिए" के तर्क की। बैंकर व्यवसाय की गतिविधि में सांस लेता है, वह उसके हृदय में बसा हुआ है, वह किसी एक विशेष व्यवसाय के पक्ष में प्रायः बंधा हुआ नहीं होता अतः वह व्यापारियों की अपेक्षा विभिन्न व्यापारों की पारस्परिक विकास सम्भावनाओं का अधिक आकलन कर सकता है और उन पर निष्पक्ष भाव से अपना निर्णय भी दे सकता है। इसके विपरीत, जो व्यापारी होते हैं वे यही कहते हैं कि चमड़े, जूट या कॉफी का वे जो व्यापार करते हैं उससे अच्छा कोई व्यवसाय ही नहीं है। व्यावसायिक-समाज के सामने जो कठिनाइयाँ हैं उन्हें हमें लघु नहीं समझना चाहिए किन्तु ब्रिटिश जहाज उद्योग का आधी शताब्दी

का इतिहास (कपड़े और मोटर-उद्योगों की आधुनिक गतिविधि को तो छोड़ ही दीजिए) हमें यह चेतावनी देता है कि व्यापारिक-जगत् की सफलता का बहुत अधिक उत्साह के साथ बखान करना उचित नहीं है।

तीसरे, आज दुनिया की जो मानसिक स्थिति है उसमें इस तर्क को एक अन्य तर्क के साथ युक्त होकर सबल बनाया जाना चाहिए। उत्पादन सामान्यत: उन मांगों का अनुकरण करता है जो मुद्रा-प्रदान क रूप में अपनी अभिव्यक्ति कर सकती हैं। हम यह तो स्वीकार कर सकते हैं कि यह एक ऐसा प्रबन्ध है जिसे पूर्णत: न तो हटाया ही जा सकता है और न हटाना वांछित ही हे (अध्याय १) किन्तु हम यह भली प्रकार कह सकते हैं कि समाज का मानस इतना प्रौढ़ और विज्ञ है कि समय-समय पर वह यह विज्ञापन कर सकता है कि कौनसी वस्तु लाभप्रद है, कौनसी नहीं और किस पर हम बल दे सकते हैं। इस युग ने श्रमिक वर्ग के लिए मकान बनाने का निश्चय कर रखा है और जो आदमी सामाजिक परिस्थितियों को समझते-बूझते हुए भी यह कहे कि मकान बनाना गलत ह वह शायद बहुत ही उत्साही और निडर व्यक्ति है। जब एक बार मकान बनाने जैसी योजना का निर्णय कर लिया जाता है तो उसे कार्य रूप में परिणत करने का उद्योग करना चाहिए, इसके विपरीत यदि ब्याज-दर बढ़ाकर योजना के समक्ष बाधाएँ खड़ी की जायें तो झुँझलाहट पैदा होती है। इस बाधा का योजना पर कुपरिणाम होगा, किन्तु इसका हमें पहले ही पता है और जो उदाहरण हमने यहाँ दिया है उसका लक्ष्य ही है मुद्रा-सत्य की कसौटी को परखना। इन परिस्थितियों में, जबकि सब कुछ कहा सुना जा चुका है, बैंकों से, जो समाज के सेवक हैं, यह अनुरोध करना चाहिए या उन्हें यह परामर्श देना चाहिए या उन्हें यह सीख देनी चाहिए कि उन्हें जनता की सेवा करने की भावना से चुने हुए उद्यम के लिए उदारतापूर्वक ऋण सुलभ करना चाहिए।

अंत में हम कह सकते हैं कि जो तर्क सामान्य दिनों में मुद्रा के नियंत्रण और नित्य-प्रति की वस्तुओं के नियमन के विरुद्ध दिये जाते हैं वे बैंक-ऋणों के सम्बन्ध में और भी कमजोर पड़ जाते हैं। पहला भय तो उन वस्तुओं की नवीन पूर्ति के सम्बन्ध में है जो आशा से परे कम भाव पर बिकती हैं, दूसरी वह असुविधा है जो ग्राहकों को किसी विशेष खुदरे दुकानदार के साथ बाँध देने से होती है और फिर वहाँ ग्राहकों को टालने का भय बना रहता है। पहला तर्क तो बैंक-ऋण से असम्बद्ध है, क्योंकि हमारा लक्ष्य ही है पूर्ति को आंशिक रूप से सोख डालना। दूसरे तर्क का बहुत कुछ बल वहाँ समाप्त हो जाता है जहाँ, उदाहरणार्थ इंगलैंड में, व्यवसाय का बहुत बड़ा अंश कुछ अच्छे और विश्वसनीय बैंकों के हाथ में होता है। लोग जैसे अपने बूचड़ को नहीं बदलना चाहते उसी प्रकार वे अपने बैंकर को भी नहीं बदलना चाहते और हमें यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि बैंकर यह विश्वास कर लेने के उद्देश्य से औपचारिक रूप से परस्पर मिल जाएंगे कि वे इस प्रकार उस हरकत का पता चलाने में समर्थ हो जाएँगे जिसे अमरीकन "द्विगुणित उधार" (Double Borrowing)[1] कह कर पुकारते हैं अथवा नियमन सम्बन्धी किसी ऐसी नीति का संतोषजनक प्रभावशाली ढंग से पालन कराने में समर्थ हो जायेंगे जिसमें निहित मूल भावना के सम्बन्ध में वे सामान्यत: एकमत हों।

यह स्पष्ट जान पड़ता है कि १९२० की मुद्रा-स्थिति से निपटने के लिए ब्रिटिश बैंक व्यवस्था के नेताओं ने जो कार्य किया है वह ध्यान देने योग्य है और, जैसा कि उनके एक नेता[2] ने कहा है, उन्होंने एक दूसरे से स्वतन्त्र छंटाई के आधार पर नियमन (Selective Rationing) करने के नियमों को इस सीमा तक अपनाया कि उसका अनुमान मात्र भी उनके पूर्वजों को हैरानी में डाल सकता था।

१. तुलनीय: फिलिटस, बैंक क्रेडिट, पृष्ठ ३०२, ३११—१२।

२. श्री वाल्टर लीफ—३ फरवरी, १९२१ को दिया गया भाषण।

यदि उन्होंने इस नियमन को कुछ और पहले लागू किया होता तथा उसमें कुछ अधिक उत्साह और विवेक बरता होता तो आज जहाजी अड्डे और कपड़े की मिलें अधिक व्यस्त होतीं। बैंक-व्यवस्था में इस प्रकार का परिवर्तन आने से बड़े बड़े बैंक एक दूसरे के अधिक निकट सम्पर्क में आएँगे या नहीं, अथवा फिर उनके कारण बैंक-व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण होगा या नहीं, ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें यहाँ उठाना हम आवश्यक नहीं समझते।

§ ७. **गिरते मूल्यों पर नियंत्रण की आवश्यकता (The Need to control Falling Prices)**—इस अध्याय में अब तक हम व्यापार-चक्र के ऊर्ध्व आवर्तन को रोकने के जो तरीके सम्भव हैं उन्हीं पर विचार कर रहे थे और यद्यपि आज, जबकि यह पुस्तक छप रही है अंग्रेज लोग व्यापारिक तेजी को प्रायः भूल से चले हैं तथापि हम इस पर विशद विवेचन करना उचित ही समझते हैं। लोगों की यह सामान्य धारणा कि व्यापारिक मंदी की अधिक स्पष्ट बुराइयाँ—जैसे दिवालियापन, उत्पादन में अत्यन्त कमी, बेकारी—पूर्ववर्ती व्यापारिक तेजी का परिणाम होती हैं, मूलतः ठीक है। अतः यदि हम तेजी को रोक सकें तो मंदी के कुप्रभाव को भी रोक सकते हैं फिर भी तेजी को हम आमूल नहीं रोक सकते और मैं समझता हूँ कि हम शायद ऐसा करना चाहते भी नहीं। यदि यह सत्य है कि औद्योगिक विकास किसी हद तक विषम गति से ही होता है, उसे धक्के लगने अवश्यम्भावी हैं, तो ऐसा समय आयेगा ही जबकि अंतर्महादेशीय रेल तैयार होगी और वर्षों तक यातायात की माँग पूरी हो जायगी—जबकि देश की रेलवे प्रणाली विद्युत से संचालित होगी—जबकि प्रत्येक नर-नारी और बच्चे के पास मोटर कार होगी—संक्षेप में, किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में हमारी मांग समय-विशेष के लिए संतुष्ट सी हो जायगी। मनुष्य के लिए यह बहुत कठिन है कि वह अपनी क्रियाओं को एक दम दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा दे। यदि हम यह कहें कि ये अवस्थाएं

कभी न आवें तो हम छोटे मुँह बड़ी बात करेंगे। इन अवस्थाओं में औद्योगिक मंदी के लक्षण बढ़ेंगे। इसके अतिरिक्त ऐसी और भी घटनाएं हैं जिन्हें हम व्यापार-चक्र के अन्दर शायद ही ला सकें, किन्तु उनका प्रभाव प्रायः उल्लेखनीय नहीं होता। यदि निजी फर्म और सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियां अपनी स्थायी तथा अस्थायी पूँजी का प्रबन्ध बैंकों से न कर अपने रिजर्वों से करें—यदि वस्तुओं का उत्पादन सरल हो, उनके थोड़े-थोड़े स्टाक हाथ में रहें और इस प्रकार उत्पादन अवधि कम की जा सके—यदि जनता बैंकों के माध्यम से बचत का अधिक प्रवाह आगे बढ़ाना चाहे तो जिन लोगों ने चार महत्त्वपूर्ण अंशों का महत्त्व भली प्रकार समझ लिया है उन्हें तत्काल यह स्पष्ट हो जायगा कि कीमतों में कमी और बचत में अपव्ययता लाने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं और इन परिस्थितियों में अमरीकन लोग अपने आधुनिक इतिहास के कुछ लक्षण अवश्य देखेंगे।

अध्याय ७, खंड १ में हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे थे वह हमें याद रखना चाहिए : हम मूल्य के प्रत्येक ह्रास को आमूल नहीं रोकना चाहते। यदि संगठन और टेकनीक में प्रगति होने के कारण उत्पादन-शक्ति में तीव्र उन्नति होती है तो हमें मुद्रा-व्यवस्था पर यह लांछन नहीं लगाना चाहिए कि वह कार्य-कुशल नहीं है, खुदरे मूल्यों को भी गिरने से वह नहीं रोक सकती, थोक मूल्यों की तो बात ही अलग है। इस ह्रास से बचत पर कोई भी सीधा प्रभाव नहीं पड़ेगा (अध्याय ५) और उसके तो कुछ निश्चय ही वांछित परिणाम होंगे (अध्याय ७)। अन्य ह्रासों की तरह व्यापारियों तथा आढ़तियों को इस ह्रास से चोट अवश्य पहुँचेगी (यह भी हमारा एक प्रधान तर्क है कि इन लोगों पर हम अधिक निर्भर न रहें) मिल मालिकों पर इसकी जो चोट होगी उसको लोग 'तिल का ताल' बना सकते हैं। जब तक हम इस बात को ध्यान में नहीं रखेंगे, हम अमरीकी बैंक-व्यवस्था के द्वारा किये गये नियंत्रण-सम्बन्धी प्रयत्नों और तद्जनित सफलता को भली प्रकार

नहीं समझ सकेंगे (अध्याय ४) इसके साथ-साथ हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि मूल्यों में ऐसे ह्रास सम्भव हैं जो पूर्णतः या अंशतः घातक हैं और जिन्हें हम अवश्य रोकना चाहते हैं। अतः यह जानना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुद्रा-व्यवस्था के हाथ में कौन-कौन से अस्त्र हैं।

§८. **गिरते हुए मूल्यों के नियंत्रण के लिए उपाय** (Expedients for the Control of Falling Prices)—जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि भले ही हम केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंकों अथवा अन्य बैंकों को जनता के सम्बन्ध में देखें, जो साधन उपलब्ध हैं वे उन साधनों से कम सशक्त हैं जो व्यापारिक तेजी को नियंत्रित करने के लिए अपनाये जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकों की चेकरी को अभिवृद्ध कर सकता है। जो तरीके चैकरी कम करने को लिए प्रयुक्त किये जाते हैं उन्हें बस उलट दीजिए, अर्थात् सरकारी प्रतिभूतियों की खरीद द्वारा उन्हें बढ़ाया जा सकता है। किन्तु यह तरीका भी वहाँ विपत्ति में पड़ सकता है जहाँ बैंक केन्द्रीय बैंक से ऋण लेते हैं क्योंकि जहाँ एक ओर केन्द्रीय बैंकों द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने से चेकरियाँ बढ़ती हैं वहाँ दूसरी ओर सामान्य बैंकों के ऋण-शोध पर वे रीती होती जाती हैं। जहाँ तक साधारण जनता की बात है, नियमन के द्वारा किसी भी समय चेकरी की सीमा का नियंत्रण किया जा सकता है किन्तु इसके विपरीत ऐसा कोई तरीका नहीं है जिससे आप चेकरियों को किसी निश्चित सीमा तक पहुँचा सकें। फिर व्याज-दर अधिक सहायक तभी होती है जब कि मूल्य गिर रहे हों, न कि जब वे बढ़ रहे हों। उदाहरण के लिए अनुमान कीजिए कि एक आदमी को बैंक से एक वर्ष बाद चुकाने के लिए १०० पौंड उधार लेना है और उसे पता है कि एक वर्ष बाद इस सौदे में उसे दस प्रतिशत का घाटा रहेगा तो वह कभी इस ऋण के लिए आगे नहीं बढ़ेगा भले ही इस ऋण पर उससे कोई ब्याज न मांगे। और ऐसा बैंक तो आज तक

दिखाई नहीं पड़ा जो बिना ब्याज के ऋण दे या ऐसे ब्याज पर उधार दे जो उसी के लिए हानिकारक हो।

अत: बैंक-व्यवस्था के सामने प्रश्न है कि किस प्रकार मुद्रा-पूर्ति को बहुल बनाया जाय और किस प्रकार उसका उचित परिचालन होता रहे जिससे कि मूल्यों के ह्रास पर नियंत्रण हो सके। किन्तु इस उद्देश्य में बैंक-व्यवस्था को तब सफलता मिल सकती है जबकि अमरीका की तरह वह स्वयं औद्योगिक व्यापारों में साहसपूर्वक विपुल पूँजी लगा सके। इंगलैंड में तो, इसके विपरीत, बैंक-व्यवस्था अपने विनियोग का परिमाण कम रखती है। आज तो लोगों में यह प्रवृत्ति है कि वे सामान्य मुद्रा के लिए हाय-हाय न कर अपनी चेकरियों को अधिक गतिशील बनाना चाहते हैं। अत: यदि इस क्रिया में बैंक आगे बढ़ना चाहते हैं तो हमें इस सम्बन्ध में अपनी कुछ पुरानी ब्रिटिश धारणाओं में संशोधन करना चाहिए।

बैंकों के हाथ में एक और साधन है। विक्टोरिया युगीन अंग्रेज की दृष्टि में यह साधन और भी अधिक अस्पष्ट है। जब आप उत्पादक में इतनी पूँजी उड़ेल चुके हैं जितनी उसमें समा सकती है तो आप उपभोक्ता पर भी इसे आजमा सकते हैं। अमरीका में १९२७ में ४५०० लाख पौंड अथवा ४ पौंड प्रति मनुष्य उपभोक्ताओं को ऋण के रूप में मिला था ताकि वे मोटर कार, वाद्य-यंत्र और अन्य वांछित वस्तुएँ खरीद सकें। इस राशि का बहुत अधिक भाग बैंकों से आया था। अन्य दृष्टिकोणों से भी इस व्यवस्था पर बहुत कुछ कहा जा सकता है, हमारी दृष्टि में तो मुद्रा के मूल्य को स्थिर बनाए रखने के लिए यह एक अत्यन्त निपुण साधन है।

§ ९. **सरकारी हस्तक्षेप के लिए क्षेत्र** (The Scope for Government Intervention)—इतना होने पर भी लेखक के मतानुसार बिना सहायता के बैंक-व्यवस्था व्यापारिक मंदी का (या व्यापारिक मंदी जैसी किसी परिस्थिति का) सामना उतनी शक्ति के

साथ नहीं कर सकती जितना व्यापारिक तेजी (या उस जैसी किसी परिस्थिति) का कर सकती है। बैंक व्यवस्था के लिए किसी सबल साथी की—देश की सरकार की—सहायता आवश्यक है। केन्द्रीय सरकार के लिए इससे बढ़ कर और क्या सूझ-बूझ की बात हो सकती है कि वह टेलीफोन यंत्रों के लिए सामूहिक माँग आयोजित करे अथवा स्थानीय स्वायत्तशासन म्यूनिसिपल शौचालयों का प्रबन्ध करे – वे जहाजों या रेलों की वैयक्तिक मांग को अपने ऊपर ले लें। अल्प काल के लिए ठीक ही यह माँग गिर चली थी। जिस समय साधारण जनता की, पूँजी बचाने की इच्छा तीव्र गति से बढ़ती है, अथवा निर्माण और विक्रय की प्रतिक्रियाएँ तेजी से बढ़ती हैं तो गैर-सरकारी उद्योग इसी परेशानी में पड़ जाते हैं कि उत्पादक शक्तियों को किस प्रकार काम में लगाया जाय। इस अवस्था में सरकार के लिए यही वांछनीय है कि मुद्रा-व्यवस्था की सहायता के लिए वह आगे बढ़े, अन्यथा उत्पादक शक्तियाँ, निदेशन के बिना, तितर-बितर हो जायंगी। अतः अन्त में हम इस पेचीदे विषय पर पहुँचते हैं कि सरकार आर्थिक प्रगति को क्या निर्देशन और प्रोत्साहन दे सकती है। किंतु इस सम्बन्ध में यहाँ इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। "अव्यवस्था काल" से जो अर्द्ध-सत्य हमें विरासत में मिले हैं उनमें से एक यह भी है कि बैंक-व्यवस्था को किसी भी कीमत पर "सरकार से स्वतन्त्र" रहना चाहिए। यदि इसका यह अर्थ है कि टैक्स-कलेक्टर के आफिस की भाँति बैंक को नहीं चलना है, अथवा बैंकर को पार्लियामेंट में नित्य ऐसे प्रश्नों की बौछार नहीं सहनी है कि उसने जान स्मिथ को क्यों ऋण दिया और विलियम ब्राउन को क्यों नहीं, तो यह बात ठीक है किन्तु यदि इसका यह अर्थ है कि देश की मुद्रा-नीति राष्ट्रीय विकास की समस्या से दूर हटकर शून्य में पंख पसारे, तो यह धारणा भयावह और ऊजड़ है।

इस प्रकार हम उसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं जहाँ से हमने

यह विवेचन आरम्भ किया था कि मुद्रा सेवक है, स्वामी नहीं, साधन है साध्य नहीं। समाज की वास्तविक आर्थिक बुराइयाँ—अपर्याप्त उत्पादन और असंगत वितरण—केवल मुद्रा-नीति के उपचार से दूर नहीं हो सकतीं। एक अविवेकपूर्ण मुद्रा-नीति अनेकों कठिनाइयों का सृजन कर सकती है और अनावश्यक अव्यवस्था तथा बर्बादी को जन्म दे सकती है। एक विवेकपूर्ण मुद्रा-नीति भी अन्यायपूर्ण और दरिद्र विश्व को न्यायपूर्ण और धनी विश्व में परिवर्तित नहीं कर सकती। जिस सड़क से माल बाजार जाता है उसकी मरम्मत खेतों की खुदाई-जुताई का स्थान नहीं ले सकती। सिद्धान्तों की हम कितनी ही उधेड़-बुन क्यों न करें, वे हमें ऐसी औद्योगिक व्यवस्था नहीं दे सकते जो योजना बनाने वालों और जोखिम उठाने वालों को पर्याप्त उत्प्रेरणा तथा श्रम करने और कष्ट सहने वालों को मानसिक शान्ति प्रदान कर सके।

परिशिष्ट (क)

(१) अध्याय २

मान लीजिए कि R वास्तविक वार्षिक राष्ट्रीय आय का द्योतक है।

मान लीजिए कि T वर्ष भर में होने वाले सौदों का वास्तविक परिमाण है।

मान लीजिए कि M उपस्थित मुद्रा के परिमाण का प्रतीक है।

मान लीजिए कि K R का वह अंश अथवा अनुपात है जिसे लोग वस्तुएँ खरीदने के लिए अपने हाथ में रखना चाहते हैं।

मान लीजिए कि K′ T का वह अनुपात है जिसे चलाने के लिए लोग अपने हाथ में पर्याप्त धन रखना चाहते हैं।

मान लीजिए कि V वास्तविक आय के तत्वों के विपरीत मुद्रा के औसत चलन वेग का प्रतीक है।

मान लीजिए कि V′ वास्तविक सौदों के तत्वों के विपरीत मुद्रा के औसत चलन वेग का द्योतक है।

मान लीजिए कि P आय का मूल्य स्तर है, और

मान लीजिए कि P′ सौदों का मूल्म स्तर है

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि

$$(१) \quad (क)\ P = \frac{M}{K\,R}$$

$$(ख)\ P' = \frac{M}{K'\,T}$$

$$(२) \quad (क)\ P = \frac{M\,V}{R}$$

$$(\text{ख})\ P' = \frac{M V'}{T}$$

(२) अध्याय ६, खंड ४

M में होने वाली निरंतर वृद्धि (१) R और T में बढ़ोतरी करेगी और इस प्रकार P और P′ की वृद्धि रोक देगी, (२) V और V′ को बढ़ाएगी (अथवा K और K′ को घटाएगी) और इस प्रकार P और P′ में होने वाली वृद्धि को तीव्र करेगी, (३) V′ को V से अधिक बढ़ाएगी (अथवा K′ को K से अधिक घटा देगी) और इस प्रकार P′ को P से अधिक बढ़ा देगी।

जहाँ तक वर्तमान मूल्य, भावों का सम्बन्ध उन सौदों के साथ है जो किसी भावी तिथि पर किये जाएँगे, P′ में कुछ और वृद्धि भी होती है। इसका कारण K′ में और भी कमी करके दिखाया जा सकता है किन्तु क्योंकि वर्तमान मुद्रा का चलन वेग उसके अनुरूप नहीं बढ़ता अतः हम उसे इस प्रकार अभिव्यक्त करेंगे :

$$P' = \frac{(M+M')\ V'}{T}$$

यहाँ M′ उस **प्रच्छन्न** मुद्रा का प्रतीक है जिसकी सृष्टि अभी नहीं हुई है।

एक प्रभाव और भी है जो P अथवा P′ को प्रभावित नहीं करता अतः, सरलता के विचार से, उसे मूल अध्याय में कोई स्थान नहीं दिया गया। T कच्चे माल और पूँजीगत वस्तुओं आदि से सम्बद्ध सौदों की संख्या बढ़ जाने के कारण अनुपात में R से अधिक बढ़ जाता है किन्तु इसका फल इतना ही होता है कि V की तुलना में V′ की वृद्धि का एक अंश (सम्पूर्ण नहीं) प्रतिसंतुलित हो जाता है।

परिशिष्ट (ख)

(१) अध्याय ५ खंड ८

मान लीजिए कि R वास्तविक वार्षिक राष्ट्रीय आय का प्रतीक है।

मान लीजिए कि K उपर्युक्त आय के उस अनुपात का द्योतक है जिस पर लोग मुद्रा के रूप में अधिकार बनाए रखना चाहते हैं और इस प्रकार K R बैंक निक्षेपों के कुल वास्तविक मूल्य का द्योतक है।

मान लीजिए कि C अस्थायी पूँजी की अभिव्यक्ति करता है।

मान लीजिए कि D वर्ष का एक वह भाग है जो उत्पादन में लगाया जाता है और इस प्रकार D R उत्पादन अवधि की वास्तविक आय का सूचक है।

मान लीजिए कि a K R का वह अनुपात है जिसे बैंकों ने अस्थायी पूंजी के रूप में निखार लिया है।

मान लीजिए कि b अस्थायी पूँजी का वह अनुपात है जिसकी सृष्टि बैंकों की सहायता से की गई है।

अतः हम कह सकते हैं कि

$$a\,K\,R = b\,C$$

$$C = \frac{1}{2}\,D\,R$$

$$\therefore\quad a\,K = \frac{1}{2}\,b\,D$$

D/K जितना अधिक होगा a/b भी उतना ही अधिक होगा अर्थात् a दिया हुआ होने पर b भी अपेक्षाकृत कम होगा, अर्थात् ऋण लेने वाले की अस्थायी पूँजी का वह अनुपात भी कम होगा जोकि

वह, संतुलन नष्ट किये बिना, बैंक के माध्यम द्वारा एकत्रित करने की आशा कर सकता है ।

(२) अध्याय ८

b और D में कमी होने पर (खंड १) अनिवार्य बचत लागू करना उसी समय रोका जा सकता है जब बैंक व्यवस्था a और/ अथवा K (खँड ३) में समान वृद्धि करने में समर्थ हो सके ।

यदि K में वृद्धि हो, जबकि b और D में कमी हो (खंड ७) तो अपने विनियोजन बढ़ा कर a में कमी करना सम्भव होने पर भी बैंक व्यवस्था के सम्मुख कीमतों में कमी और बचत का अपव्यय रोकने के लिए अग्निपरीक्षा उपस्थित हो सकती है ।

अध्याय ९

द्वितीय अव्यवस्था में मुद्रा

(Money in the Second Great Muddle)

एक बार फिर उसने अपने आपको बड़े मकान के अन्दर पाया और निकट ही शीशे की छोटी मेज थी। "इस बार मैं अधिक कुशलता से काम लूँगी" उसने अपने आप से कहा।

—एलिसेज एडवेंचर्स इन वंडरलैंड

§ १. भीषण मंदी (The Great Slump)—"अब हम अपेक्षाकृत शांत परिस्थितियों में आ गये हैं", लेखक ने इस प्रकार की सांत्वना अपने पाठकों को १९२८ में दी थी (अध्याय १) लेखक से अधिक विवेकशील व्यक्तियों को भी तब यही आशा और आस्था थी किन्तु एक वर्ष बाद व्यापार में ऐसा अवरोध उत्पन्न हुआ और वस्तुओं के मूल्यों में ऐसा ह्रास आया जैसा इतिहास में कभी सुना नहीं गया था। संसार की आर्थिक व्यवस्थाएं एक बार फिर गड़बड़ मे फंस गयीं। कुछ समय बाद आर्थिक रूप में थोड़ी-बहुत स्थिरता भी आयी किन्तु शीघ्र ही संसार के सबसे बड़े युद्ध की अवतारणा हुई। और मुद्रा पर जो चर्बी चढ़ने लगी थी वह आग में झुलसने लगी। इस अध्याय में द्वितीय अव्यवस्था में पड़ी मुद्रा की कहानी का संक्षेप में वर्णन किया जायगा। मुद्रा अभी तक इस अस्तव्यस्तता से भली प्रकार मुक्त नहीं हो सकी है। पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना आवश्यक है कि इस पुस्तक की पांडु लिपि १९४७ के आरम्भ में लेखक के हाथ से निकल चुकी थी।

जो पाठक दूर तक की सोचते हैं, वे अनुभव करेंगे कि इस पुस्तक

के अन्दर १९२८ के जिस उद्यान का वर्णन किया गया है, वहाँ कुछ ऐसे संकेत भी दिये गये हैं जो उस उद्यान की रमणीयता पर प्रश्न भी खड़े कर देते हैं। उन संकेतों से पता चलेगा कि स्वर्ण विनिमय व्यवस्था पर झूलते हुए यूरोप को कुछ व्यग्रता तब भी थी (अध्याय ७) और पौंड की पुरानी स्वर्ण समता पर झूलता हुआ इंगलैंड भी कुछ-कुछ व्यग्र था। उन संकेतों से यह भी पता चलेगा फि परोपकारी फेडरल रिजर्व व्यवस्था के नीचे झूलते हुए अमरीकी सम्पन्नता के सुदीर्घ स्वर्ण काल के भी कुछ विचित्र लक्षण थे। किन्तु लेखक इस बात का दावा नहीं करता कि आगे आने वाले झंझावात को देखने की उसमें पूर्ण दृष्टि थी और न वह यही कह सकता है कि इस झंझा के विभिन्न कारणों में कितनी पारस्परिक शक्ति थी। इतिहास का यह एक ऐसा प्रसंग है जिसके सम्वन्ध में आज भी अधिक बुद्धि-प्रदर्शन सरल नहीं है।

ऐसा कहा जा सकता है कि जो कुछ घटना घटी, वह मूलतः उन घटनाओं से भिन्न नहीं थी जो इतिहास में प्रायः घटती रहती हैं। पूँजीगत साधनों—कुछ प्रमुख साधनों—के सम्बन्ध में परिपूर्णता की एक अस्थायी दशा उपस्थित हो गयी थी, विशेषतः अमेरिका तथा उन देशों में जो अपनी संचित जमा पूँजी से इन साधनों को एकत्र करने में लगे हुए थे। किन्तु यह दशा तब उपस्थित हुई जब कुछ ऐसी विषमताएं पैदा हो चली थीं जिनका प्रभाव आगे चलकर अवश्य पड़ना था। पहली बात तो यही थी कि पश्चिमी देशों की जनसंख्या की वृद्धि की दर में ह्रास आने लगा था। ऐसी स्थिति में प्रमुख वस्तुओं की मांग में तथा सम्पत्ति के सामान्य उत्पादन में समरसता नहीं रहती और इस कारण विश्व की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वालों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे अपने साधनों को उत्पादन में लगाते समय अधिक सावधानी से काम लें। दूसरी बात यह थी कि लोग कृषि में वैज्ञानिक विचारधारा और प्रणालियाँ अधिक से अधिक अपनाने लगे। निस्संदेह, विश्व के भविष्य के लिए तो यह अत्यन्त शुभ संकेत था.

किन्तु उत्पादकों के उस वर्ग को तो इससे तात्कालिक हानि ही हो सकती थी जो नये तरीकों से अपरिचित थे। इतना ही नहीं, आरम्भ में तो इन तरीकों को अपनाने वालों की कुल आय में भी कमी संभव थी। अतः विश्व का कृषि-समुदाय अपनी ही मुसीबतों में फंसा हुआ था और औद्योगिक क्षेत्रों से जो भी संक्रामक बीमारी फैलती वह उसे आसानी से पकड़ सकती थी।

इन सामान्य कठिनाइयों के साथ अनेक विशेष बाधाएं भी थीं। युद्ध समाप्त करने के लिए की जाने वाली संधि व समझौते ने सार्वजनिक ऋणों का एक जाल सा बिछा दिया था जिसके अनुसार गरीब देशों से प्रति वर्ष धन अमीर देशों को जाने लगा। यह व्यवस्था उसी समय तक—और केवल उसी समय तक—चलने के लिए थी जब तक अमीर देश गरीब देशों को ऋण के रूप में फिर धन लौटाते रहें। अपने कुछ प्रमुख उद्योगों की शिथिलता के फलस्वरूप निर्यात क्षमता में होने वाली कमी और अपने बढ़े हुए उत्पादन व्ययों के कारण इंगलैंड अत्यधिक चिंतित था और वास्तव में पर्याप्त नगदी न होने पर भी वह उन उत्तर-दायित्वों को अपने कन्धे से उतार फेंकना चाहता था जो स्वर्ण विनिमय प्रणाली (अध्याय ४) ने उस पर लाद दिये थे। अन्तिम बात यह कि अमरीकी स्वभाव के अनुरूप स्वर्ण युग सट्टा बाजार में होने वाले सट्टे के अभूतपूर्व विलास में लीन हो गया। फेडरल रिजर्व के अधि-कारियों के लिए यह निर्णय करना कठिन हो गया कि औद्योगिक तेजी की बुझती हुई चिनगारी को नव शक्ति प्रदान की जाय अथवा शेयर बाजार में आने वाले उफान पर ठंडा जल छिड़का जाय। इसीलिए उन पर इन दोनों दिशाओं में बढ़ने के लिए समान रूप से दोषारोपण किया गया।

अस्तु, अक्तूबर १९२९ में शेयर बाजार टूट गया और उतार व ह्रास सही अर्थों में आरम्भ हो गया। १९३२ तक सामान्यतः समस्त संसार में थोक-कीमतें सोने में आंकी गयीं और औद्योगिक उत्पादन

लगभग एक-तिहाई रह गया और नियोजन (Employment) और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण १६२९ के स्तरों से लगभग एक चौथाई कम हो गया। इन आँकड़ों के पीछे अव्यवस्था और आपदा की एक लम्बी कहानी छिपी है। कुछ समय तक तो सबके अथवा किसी के भी मूल्य पर ठोस बन जाने अथवा बदले में रखी जाने वाली मुद्रा के लिए की जाने वाली लपक-झपक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निर्विघ्न चलती रही। फर्मों ने अपने वायदे कम कर दिये, बैंकों ने स्वदेश तथा विदेशों में दिये गये अपने ऋण वापिस लेना आरम्भ कर दिया, सरकार अपने खर्च कम करने में प्रयत्नशील हो गयी, सट्टेबाज अपना धन संसार के एक भाग से हटा कर दूसरे में ले जाने लगे—लाभ की दृष्टि से नहीं अपितु उस आकाश-कुसुम सुरक्षा की दृष्टि से। इस भार से विश्व की वह मुद्रा-सम्बन्धी एकता नष्ट-भ्रष्ट हो गयी जिसकी स्थापना अत्यन्त कठिनता से हुई थी। १९३० में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ने मार्ग दिखाया जिसका अनुसरण आगे चल कर अनेक देशों ने किया। यह मार्ग था विनिमय अवमूल्यन (Exchange Depreciation) का। १९३१ के वसन्त में केन्द्रीय यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था में विस्फोट हुआ। जर्मन बैंक, जो अपने देश के उद्योगों के वैभव के साथ अत्यधिक सम्बद्ध थे, बैठ गये और क्षतिपूर्ति तथा युद्ध-कालीन ऋण-सम्बन्धी सब समझौते अस्तव्यस्त हो गये। सितम्बर १९३१ में बैंक आफ इंगलैंड ने लंदन से विदेशी निधियों की वापसी के भार से दब कर, अपनी पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण धातु देना बंद कर दिया (अध्याय ४) और पौंडस्टर्लिंग, जिसे उसी समय अथवा उसके कुछ समय पश्चात् विश्व की शेष मुद्रा इकाइयों में से अनेक ने अपना लिया था, एक बार फिर विनिमयों के ज्वार-भाटे पर आ पड़ा।

अमरीका में यह मंदी बढ़ती ही गयी। १९३२ तक औद्योगिक उत्पादन गिर कर १९२९ के स्तर से लगभग आधा रह गया था।

बताया जाता है कि उस समय बेकारों की संख्या १ करोड़ ४० लाख तक पहुँच गयी थी। इसके अतिरिक्त, इंगलैंड के विपरीत, अमेरिका में सुरक्षा की यह प्यास बैंक मुद्रा जैसी किसी अग्राह्य वस्तु द्वारा नहीं बुझायी जा सकती थी, उसका विस्तार तो सामान्य मुद्रा, यहाँ तक कि कठोर धातुओं तक था। २४ हजार विभिन्न बैंकों में से शक्तिहीन बैंक धड़ाधड़ टूटने लगे और जिस समय मार्च १९३३ में नये राष्ट्रपति, रूजवैल्ट, ने कार्य-भार संभाला तब तक स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि देश के प्रत्येक बैंक को बंद कर देना ही उचित जान पड़ने लगा था। इसके बाद एक विचित्र बात हुई। न्यू डील (New Deal) के एक अंग के रूप में स्वयं डालर को सोने से अलग कर दिया गया और कुछ समय तक अधिकारी धीरे-धीरे बढ़ती हुई डालर कीमतों पर सोना खरीदते रहे। स्थिति को सुधारने के लिए जो उपाय किये गये उनके उस ढाँचे को "न्यू डील" कह कर पुकारा जाता है जो स्पष्ट भी न था और आत्म-अनुरूप भी नहीं। जनवरी, १९३४ में कहीं जा कर डालर को फिर सोने के साथ सम्बद्ध किया गया, परन्तु उस समय सोने तथा डालर की समता पुरानी समता से लगभग ४० प्रतिशत कम रखी गयी।

§ २. **पूर्वावस्था प्राप्ति के लिए संघर्ष** (The Scramble to Recovery)—१९३२ में अत्यन्त घृणापूर्वक इस पृथ्वी को छोड़ कर चला जाने वाला मंगल-ग्रह का कोई वासी यदि फिर १९३७ की वसंत ऋतु में यहाँ आता तो उसे यह देख कर अपार आश्चर्य होता कि उसकी अनुपस्थिति में यहाँ की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हो गया है, उसे अमेरिका की सीमाओं के भीतर कई लाख व्यक्ति बेकार तो अवश्य दिखाई देते, परन्तु वह सामान्यत: अमेरिका को एक बार फिर वैभव और सम्पन्नता की दशा में ही पाता। उसे ब्रिटेन अपने कुछ पुराने उद्योगों में उलझा हुआ दिखायी देता परन्तु उस देश में मंगल-ग्रह के इस वासी को सुरुचिपूर्ण ढंग से बनाये गये अनेक नये मकान और

कारखाने भी दिखाई देते । वह यह भी देखता कि ब्रिटेन अब फिर अपने उसी व्यवसाय—अन्य लोगों के कार्य करने तथा दूसरों के धन की देख-रेख करने—में लगा है क्योंकि उस ज्वाला में पुरानी स्वर्ण-विनिमय-प्रणाली भस्म हो जाने पर भी अपेक्षाकृत एकाग्र और समान चित्त वाले राष्ट्र उस राख में से उत्पन्न होने वाली स्टर्लिंग-विनिमय प्रणाली पर टिके रहने के लिए पूरी तरह तैयार थे । ऊँची-ऊंची दीवारों से परे झांक कर हमारा यह काल्पनिक दर्शक जर्मनी और सोवियत रूस में पुर्नानिर्माण और पुनः शस्त्रीकरण कें चक्र घूमते देख सकता था । जिधर भी उसकी दृष्टि जाती वहीं वह वास्तव में अकल्पनीय व्यापारिक प्रतिबन्ध और भाँति-भाँति के नियन्त्रण देखता, और साथ ही उसे इस बात का भी पता अवश्य चलता कि संसार भर के व्यापार का परिमाण फिर अपने १९२९ के स्तर तक आ गया है । इसकी स्थिति में होने वाला और सुधार विनिमय की अस्थिरता के किसी नवीन भय से भी मुक्त ही दिखाई देता । अपनी पूरी घूम के बाद उठते-गिरते विनिमय एक बार फिर पुरानी बात बन चुके थे । दोनों मुख्य वर्ग, डालर और स्टर्लिंग, अपनी-अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए द्वन्द्व-युद्ध करने के उपरांत, कुछ शांत से हो गये थे । इस वस्तु-स्थिति का प्रभाव अब एक अधिक विस्तृत क्षेत्र पर पड़ने लगा था परन्तु अवश फ्रांस को, जो विनिमयों से भी कहीं अधिक भयंकर राजनीतिक और सामाजिक शक्तियों की अस्थिरता के कारण जर्जरित हो गया था, अभी अवमूल्यन के उस फल का रसास्वादन करना शेष था जिसे उसने, स्विटजरलैंड और हालैंड के साथ, बहुत समय तक पेड़ पर ही लटका रहने दिया था । पूर्व में अधिक दूरी पर स्थित देशों, विशेषतः जर्मनी में, बहुत ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे । जर्मनी में विदेशी मुद्रा का वह स्वतन्त्र बाजार बिल्कुल नष्ट हो चुका था जिसका अस्तित्व प्रस्तुत पुस्तक के रचना-काल, १९२८ में, स्वतः-सिद्ध मान लिया गया था । विदेशी मुद्राओं की सम्पूर्ण मांग और पूर्ति

अधिकारियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी थी। प्रत्येक प्रकार की विदेशी मुद्रा का मूल्य अलग-अलग और सब तरह के व्यावसायिक और दूसरे कारणों को ध्यान में रखकर अपने देश की मुद्रा में निर्धारित कर दिया गया था, यहाँ तक कि एक ही विदेशी मुद्रा का मूल्य स्वदेश की मुद्रा में विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता था। इस प्रकार विश्व के इस समस्त भाग में, और किसी हद तक दक्षिणी अमेरिका में भी, दो-दो राज्यों के बीच किये जाने वाले विशेष प्रबन्धों का एक जाल-सा बिछ गया था। वास्तविक टेकनिकल विवरणों के अनुसार इन प्रबन्धों को शोधन करार (Payments agreements) अथवा हिसाब चुकाने के करार (Clearing agreements) कहा जाता था। इन करारों का लक्ष्य था व्यापार-प्रवाह को विशेष दिशाओं की ओर मोड़ना। इन प्रबन्धों की उन लोगों ने बड़ी कटु आलोचना की जो इन देशों के साथ व्यापार करना चाहते थे पर अपने प्रयत्नों में इन प्रबन्धों के कारण निष्फल रहे। किन्तु उन लोगों ने इस व्यवस्था को उचित ठहराया जो यह समझकर इसका पालन कर रहे थे कि व्यापार के सर्वथा अभाव से आंशिक व्यापार श्रेष्ठतर है। १९२९ से '३२ की आँधी ने जिन देशों को उनके अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा रिज़र्वों से वंचित कर दिया था उन्हें तो यह विकल्प सबसे अधिक सम्भाव्य जान पड़ा।

संसार की स्थिति में यह सुधार कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में हमारे काल्पनिक दर्शक को तरह-तरह के विचार सुनाई देते। क्या इसका कारण केवल यह था कि १९३२ में व्यापार चक्र, स्वनिर्मित विचित्र नियमों के अनुरूप अपने छोर तक पहुँच गया था और भूल करनेवाली सरकारें अथवा सदोष संस्थाएँ उसे ऊपर की ओर चढ़ने से नहीं रोक सकती थीं? इसके विपरीत, क्या इस परिवर्तन का मूल कारण किसी-न-किसी प्रकार की वे निरोधात्मक नीतियां थीं जिनका पालन संसार के प्रमुख देशों में किया जा रहा था और जिन्होंने अकर्मण्यता और

भेद-विभेद का पुराना शासन समाप्त कर दिया था ? इन नीतियों में "न्यू डील" के साहसपूर्ण गड़बड़झाले, अस्पष्ट नाजी आदर्श और डा० साक्ट (Dr. Schacht) की अत्यधिक क्रियात्मक कल्पना शक्तियों के गठबन्धन और अपने नवनिर्मित बिक्री बोर्डों तथा सर्व शक्तिशालिनी आयात शुल्क सलाहकार समिति (Import Duties Advisory Commitee) से युक्त अंग्रेजी नव टोरीवाद (English New Toryism) का उल्लेख किया जा सकता है। अथवा क्या इसमें एक मध्यवर्ती और पूरी तरह मुद्रा से ही सम्बन्ध रखने वाले किसी ऐसे सत्य का प्रधान भाग था जिसकी ओर इस छोटी-सी पुस्तक के लेखक तथा पाठकों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए ? यह तो निश्चित ही है कि अलग-अलग रहकर काम करके और यह काम करने के लिए परस्पर एक दूसरे के कन्धों पर पैर रखकर संसार के अधिकतम देश अब तक उतना ही काम कर पाये थे जिसे परस्पर मिल करके औचित्य पर समय से पहले ही प्रकाश डाल दिया गया था। इन सब देशों ने इस कार्य में समान रूप से उत्साह अथवा कार्य-कुशलता तो न दिखाई किन्तु उन्होंने अपनी मुद्रा-पूर्ति और सोने के बीच रहने वाले सम्बन्धों के बारे में अपने विचार और कार्यों को शिथिल अवश्य कर दिया था। उन्होंने अपनी स्थानीय मुद्राओं में सोने का मूल्य भी बढ़ा दिया था। यह वृद्धि सब देशों में समान रूप से न होकर २५ प्रतिशत (हालैंड) से २०० प्रतिशत (जापान) तक हुई। इस प्रकार उन्होंने अपनी कूटनीति के लिए अधिक स्थान तथा बल प्राप्त कर लिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने इस बात का पता लगाने की पर्याप्त स्वाधीनता प्राप्त कर ली कि मुद्रा सम्बन्धी मांग का वेग फिर से उत्पन्न करने के लिए आसान शर्तों पर कितनी कम अथवा कितनी अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। यह बात यहीं तक समाप्त नहीं हो जाती कि उनके प्रस्तुत रिज़र्वों में नवोन्मेष, नव-उत्पादन की विस्मयकारी शक्ति आ गयी थी। पश्चिमी देशों ने स्वर्ण के लिए जो

मुद्रा-मूल्य देना स्वीकार किया उससे मुद्रा-मूल्यों में इतनी अभिवृद्धि हुई कि १९३७ तक इसके वार्षिक उत्पादन की दर में १९२९ के स्तर से ८० प्रतिशत वृद्धि हो गई। इसके साथ ही भारत और चीन की जनता ने १९२९ के उत्पादन से दुगुना गड़ा हुआ सोना बाहर निकाल लिया और इस प्रकार उन्होंने सोने को गाड़ रखने के अपने उस स्वभाव से लाभ उठा लिया जिसे एक मूर्खतापूर्ण स्वभाव कहा जाता था, परन्तु जो इस समय एक लाभदायक विनियोग सिद्ध हो रहा था। यह नया अथवा नये सिरे से प्रकाश में आने वाला सारा सोना वहीं नहीं पहुँचा जहाँ उससे अधिकतम लाभ उठाया जा सकता था, किन्तु इस प्रकार उन प्रेक्षकों के भय अवश्य दूर हो गये जिन्होंने १९२८-३० में (अध्याय ७) यह आशंका प्रकट की थी कि कहीं सोने की सर्वथा कमी के कारण प्रगति का चक्र रुक न जाय।

§३. महायुद्ध के उपरान्त (The Morrow of War)—थोड़ी मंदी के बाद उत्पादन और व्यापार ने कुछ तेजी पकड़ी परन्तु यह तेजी विशेष सुखदायी सिद्ध न हुई। क्योंकि उत्पादन मुख्यतः शस्त्रास्त्र का ही हुआ और व्यापार युद्ध-सामग्री का ही। एक बार फिर यूरोप की सक्रिय मुद्रा, सुरक्षा की खोज में, एटलांटिक के पार जाने लगी। सितम्बर १९३९ में एक बार फिर महायुद्ध और सर्वनाश की ज्वाला भड़क उठी। इस बार होने वाला युद्ध पहले से भी अधिक भयंकर था। अतः हम मंगल-गृह वासी अपने विशिष्ट अतिथि को युद्ध-काल के लिए अवकाश देकर १९४७ के प्रारम्भिक महीनों में फिर इस पृथ्वी का निरीक्षण करने के लिए निमंत्रित कर लेते हैं। अब उसे युद्ध-पूर्व की कुछ धाराएँ उलटी हुई दिखाई देंगी और कुछ पहले से सबल। उदाहरणार्थ सोने के उत्पादन में फिर कमी हो गई। युद्ध में—कम से कम एक उधार पट्टा-युद्ध (Lend-lease War) में—सोने से अधिक लाभदायक हथियार भी होते हैं और सोना ही एकमात्र वस्तु है जिसके उत्पादन व्यय के रूप में अधिक मुद्रा खर्च होने पर भी प्रमुख मुद्राओं

में उसकी कीमत लगभग अथवा पूर्णतया अपरिवर्तित ही रही है। पूर्वी देशों ने फिर यथासम्भव अधिक से अधिक सोना निगलना आरम्भ किया, यद्यपि इस बार इस प्रक्रिया में युद्ध-काल की सी उत्कटता न थी। इस पुस्तक के छठे अध्याय में प्रथम भीषण अव्यवस्था में होने वाली जिन प्रक्रियाओं का उल्लेख किया जा चुका है, टेकनिकल दृष्टि से उनसे कुछ भिन्न परन्तु वस्तुतः लगभग उसी प्रकार की युद्धकालीन वित्त-व्यवस्था की चालों के फलस्वरूप सब जगह मुद्रा—बैंक मुद्रा और सामान्य मुद्रा—का परिमाण बहुत बढ़ गया। सब स्थानों पर कीमतें १९३९ के मुकाबले से ऊँची हो गईं, कहीं कम कहीं अधिक किन्तु ये कीमतें कदाचित मुद्रा के परिमाण में होने वाली वृद्धि के अनुपात में कहीं भी न बढ़ सकीं। कुछ अभागे देशों में हमारे इस विशेष अथिति दर्शक को उस प्रकार का विद्युत गर्जन दिखाई-सुनाई देगा जिसका उल्लेख अध्याय ६ में किया गया है। यह बिजली-वर्षा अपने साथ मुद्रा की इकाई को सर्वोच्च सीमा के बीच से निकाल ले गई। इस प्रकार वह पेंगो (Pengo) जो लाखों करोड़ों गुना हो गया था, १९४६ में सर्वथा विलीन हो गया। दूसरी ओर, बेल्जियम जैसे कुछ देशों ने, सावधानी के विचार से, प्रत्येक व्यक्ति के एकत्रित धन—बैंक और सामान्य मुद्रा—के एक भाग को राजकीय ऋणों में परिवर्तित करके अपनी बढ़ी हुई मुद्रा को दृढ़तापूर्वक किसी हद तक पीछे धकेल दिया था। दूसरी ओर अधिकतर देश फर्मों तथा व्यक्तियों की खर्च करने की इच्छाओं को सीमा में ही रखने के लिए इन दो सशक्त साधनों पर विश्वास बनाये रखने के लिए तैयार दिखाई पड़े: (१) खाद्य और सामान्य नियंत्रण के प्रत्यक्ष तरीके और (२) ऐसी अनेक वस्तुओं की अनुपलब्धि जिन्हें ये फर्में या व्यक्ति वास्तव में खरीदना पसन्द करते हों। सब ओर निजी पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इधर-उधर जाने पर कड़ा नियंत्रण करके उस भयंकर स्थिति को फिर से न आने देने का दृढ़ निश्चय दिखाई देता था जो १९२१-२३, १९३१

और १९३८-३९ में पर्यटनशील प्रलोभन मुद्रा (Greed money) तथा भयाक्रान्त मुद्रा (Funk money) के कारण सामने आ चुकी थी। अतएव आंशिक रूप से तो इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए और अंशतः अनेक आवश्यक वस्तुओं के विश्वव्यापी अभाव के परिणाम-स्वरूप युद्ध काल की अर्थ व्यवस्था बनाये रखने के कारण अमरीका से बाहर के अनेक देश विदेशी मुद्राओं के बाजार की व्यवस्था उसी केन्द्रित और चुने हुए प्रबन्ध के आधार पर कर रहे थे जो १९३०-'९ तक तो यूरोप और दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों तक ही सीमित था, परन्तु महायुद्ध का आरम्भ हो जाने पर सामान्यतः प्रचलित हो गया।

§४. नियमों में परिवर्तन (Changes in the Rules)—अधिकतर देशों में मुद्रा और स्वर्ण के बीच का सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक की अपेक्षा भी कुछ अधिक लोचदार हो गया था। इस प्रकार इस पुस्तक के तीसरे और चौथे अध्याय में वर्णित मुद्रा की किस्मों और मुद्रा-प्रणालियों का वर्गीकरण कुछ पुराना-सा तो अवश्य जान पड़ता है, किन्तु लेखक का यह विश्वास अक्षुण्ण है कि उसका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट नहीं हुआ है और विचारों के स्पष्टीकरण में भी उससे सहायता मिलती है। प्रस्तुत आकार की पुस्तक में तो इस बात का संक्षिप्त संकेतमात्र ही पर्याप्त है कि १९२८ के पश्चात् इंग्लैंड और अमरीका में खेले जाने वाले मुद्रा-सम्बन्धी खेल के नियमों की क्या दशा हुई। हम यह विवेचन बैंक-निक्षेपों और बैंक-रिजर्वों के पारस्परिक सम्बन्ध (अध्याय ३) के साथ करेंगे। इंग्लैंड में यह सम्बन्ध अभी तक कानून के बदले प्रथा पर ही आधारित रहा था किन्तु १९४६ के अन्त में इस प्रथा को एक सार्वजनिक घोषणा का रूप दे दिया गया और यह स्पष्ट कर दिया गया कि ८ प्रतिशत का अनुपात प्रभावपूर्ण ढंग से दिन प्रतिदिन बनाए रखना होगा। इससे पहले अधिकतर बैंकों में यह अनुपात १० अथवा ११ प्रतिशत के उन

आँकड़ों से भिन्न होता था जो समय-समय पर प्रकाशित किये जाते थे। इन रिज़र्वों का दो-तिहाई से अधिक भाग अब बैंक ऑफ इंग्लैंड में जमा रहता है। बैंकरों के इन अवशेषों (Balances) और बैंक द्वारा रखे गये पत्र-मुद्रा के रिज़र्व का अनुपात बहुत ही अनियन्त्रित है और पुराने अनुपात से बहुत कम है। अमरीका में कानूनी तौर पर निम्नतम प्रतिशत रिज़र्वों की जो निर्धारणा कर दी गई थी (अध्याय ३) वह इस प्रणाली के अन्तर्गत काम करने वाले बैंकों (जिनके साधन इस समय समस्त व्यवसायिक बैंकों के ⅚ भाग के बराबर हैं) को १९३० और उसके बाद के कुछ अनिश्चित वर्षों में कानून द्वारा निर्धारित निम्नतम सीमा से बहुत अधिक रिज़र्व इकट्ठे करने से न रोक सकी। १९३६-३७ की अल्पकालीन, किन्तु तीव्र तेजी के दिनों में अपनी नियंत्रण शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से अधिकारियों ने अपने नव-अर्जित अधिकारों का प्रयोग (क्रमशः) कानूनी सीमा दुगुनी कर देने के लिए किया। इस प्रकार बढ़े हुए रिज़र्वों का एक महत्त्वपूर्ण भाग स्वयमेव सीमा के भीतर आ गया। उसके उपरांत तो कानून द्वारा निर्धारित निम्नतम सीमाएँ परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर बदली जाती रहीं और १९४२ से तो यह सीमा समय सापेक्ष जमा (Time Deposits) के लिए ६ प्रतिशत पर आकर टिक सी गई है और समय निरपेक्ष जमा (Demand Deposits) के लिए अनेक प्रकार के बैंकों की तत्सम्बन्धी औसत लगभग १८ प्रतिशत पर। एक समय था जब कानून द्वारा निर्धारित सीमा बदल देने का यह अधिकार केन्द्रीय बैंक-नियंत्रण का एक महत्त्वपूर्ण एवं लाभदायक साधन माना जाता था।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि १९२८ के बाद से दोनों देशों की सामान्य मुद्रा की क्या दशा रही है। सितम्बर १९३१ के बाद से बैंक आफ इङ्गलैंड के नोट कानूनी तौर पर किसी भी अन्य वस्तु में परिवर्तित नहीं हो सकते। इस प्रकार अब यह निर्णय करना कठिन है कि उक्त नोट पर छपे इस वाक्य का वास्तविक अर्थ क्या है। "मैं इस

नोट के वाहक को, मांगने पर, १ पौंड की रकम देने का वचन देता हूँ।'' एक व्यंग प्रधान लेखक का कथन है कि इस वाक्य द्वारा प्रधान कोषाध्यक्ष यह वायदा करता है कि यदि आप किसी नोट का नम्बर अशुद्ध समझते हों तो वह आपको उस नम्बर के नोट के बदले दूसरे नम्बर का एक नया नोट दे देगा। जहाँ तक रिज़र्वों के नियमों का सम्बन्ध है, इस दिशा में सैद्धान्तिक रूप से १८४४ और १९२८ के अधि-नियमों द्वारा निर्धारित प्राचीन स्वरूप अब भी मान्य हैं, किन्तु वस्तुत: उस स्वरूप में अकल्पनीय परिवर्तन हो गया है। इस परिवर्तन के दो प्रमुख कारण हैं :—(१) देश का सोना बैंक के बदले सरकार के हाथ में आ जाने के कारण और (२) बैंक के अरक्षित निर्गमन की रकम घटाने-बढ़ाने के सम्बन्ध में १९२८ के अधिनियम द्वारा सुरक्षित अधि-कारों के ऐसे प्रयोगों के कारण जो उनके मूल प्रयोगों से भिन्न थे। अत्यन्त संक्षेप में पूरी कथा इस प्रकार है : १९३१ में जब सोने और पौंड का पारस्परिक सम्बन्ध शिथिल कर दिया गया तो सोने का बाजारी भाव तत्काल ८५ शिलिंग प्रति शुद्ध औंस (७७ शिलिंग ९ पेंस प्रति प्रमाणिक औंस, अध्याय ४) की उस दर से ऊँचा हो गया जिसके अनु-सार बैंक को भुगतान करना था और जिस दर के अनुसार अब भी बैंक के पास रखे सोने का मूल्य आंका गया था। कुछ ही महीने बाद घटना प्रवाह ने फिर दिशा परिवर्तन करना आरम्भ किया। विदेशवासी यह अनुभव करने लगे कि अंग्रेजी मुद्रा बहुत सस्ती हो गयी है। अत: वे अब फिर उसे खरीदना चाहने लगे। उसी समय एक विशेष सरकारी कोष (Fund) की स्थापना हुई जिसे विनिमय समीकरण खाता (Exchange Equalisation Account) का नाम दिया गया। इस कोष को बाजार भाव पर सोना खरीदने का अधिकार था। इस कोष से अनेक उद्देश्यों की पूर्ति हुई। इनमें से प्रस्तुत प्रसंग में दो का महत्त्व बहुत अधिक है : एक तो इस प्रकार केवल किताबी नुकसान सह कर यह कोष सोना खरीदने का अपना कुछ काम बैंक को सौंप

सकता था। इस प्रकार बैंक अरक्षित निर्गमन (जिसे वास्तव में घटाकर २० करोड़ पौंड कर दिया गया) के महत्त्व के सम्बन्ध में प्राप्त विचारों का अतिक्रमण किये बिना ही, उस समय प्रचलित सुलभ मुद्रा (easy money) और व्यापार विस्तार नीति के अनुसार अपने कुल नोट-चलन में बढ़ोतरी करने में समर्थ हो गया। दूसरे खरीदा जाने वाला पूरा सोना बैंक को न सौंप कर कोष ने उस सम्भावना का सामना करने का भी समुचित प्रबन्ध कर लिया जब इस समय अंग्रेजी मुद्रा खरीदने के इच्छुक उसे फिर बेचने की इच्छा करने लगे। इस प्रकार यह सम्भव हो गया कि यदि कभी यह सम्भावना सत्य ही सिद्ध हो जाय तो अपने देश के मुद्रा स्तम्भ की नींव में से सोना निकाले बिना ही अत्यन्त आसानी से उनकी माँगें पूरी की जा सकें। पूर्ण स्वर्ण मान के अन्तर्गत ऐसी स्थिति में सोना निकालना ही पड़ता।

यूरोप पर युद्ध के बादल मंडराने पर वह दिन आ ही गया और १९३९ के आरम्भ में कुछ और परिवर्तन भी हुए। बैंक के सोने का लगभग दो-तिहाई भाग विनिमय समीकरण खाते के उन खजानों में धकेल दिया गया जिन्हें रिक्त कर दिया गया था (यद्यपि इस बात पर अभी प्रकाश नहीं डाला गया कि उन्हें वास्तव में किस प्रकार रिक्त किया गया था)। इस प्रकार हो जाने वाली कमी को कुछ तो अरक्षित निर्गमन को ४० करोड़ तक के प्रारम्भिक उतार-चढ़ाव के उपरान्त ३० करोड़ पौंड पर निश्चित करके पूरा किया गया और कुछ बैंक के अवशिष्ट सोने का १४८ शिलिंग ५ पेंस के बाजार भाव के अनुसार फिर से मूल्यांकन करके बैंक का वह विशेषाधिकार समाप्त कर दिया गया जिसके अनुसार वह ८५ शिलिंग की दर से सोना खरीद सकता था। इसके अतिरिक्त, नये अधिनियम में यह स्वीकार कर लिया गया कि सोने का भाव केवल भूतकाल में ही नहीं बल्कि भविष्य में भी बदल सकता है, इसलिए अधिनियम में इस बात की व्यवस्था कर दी गयी कि इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर सोने का मूल्यां-

कन किया जाता रहे। पुराने पात्रों में नवीन आसव भरने के लिए-स्वयं सामान्य नियन्त्रक की गति विधियों को नियंत्रित वस्तु के अनुरूप बनाने के लिए—कदाचित मनुष्य की कल्पना शक्ति इससे आगे न जा सकती थी और यदि शान्ति की स्थापना हो जाती तो यह कहानी यहीं समाप्त भी हो जाती। किन्तु अभी तो बहुत कुछ होना शेष था। युद्ध छिड़ जाने पर, सितम्बर १९३९ में, १००,००० पौंड की नगण्य रकम के अतिरिक्त बैंक का सम्पूर्ण अवशिष्ट सोना विनिमय खाते में जमा कर दिया गया ताकि वह युद्ध सामग्री के बदले किये जाने वाले भुगतान के रूप में एटलांटिक के पार भेजा जा सके। इस प्रकार वस्तुत: ५८०० लाख पौंड से कुछ अधिक का सम्पूर्ण अवशिष्ट पत्र-मुद्रा निर्गमन अरक्षित हो गया। अब भी उसे वह अपूर्व स्थिति प्राप्त है यद्यपि बाद में १९२८ के अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग के फलस्वरूप ५८०० लाख पौंड की यह रकम १९४६ के अन्त तक १४५०० लाख पौंड तक बढ़ गयी। खाते की ओर से अब भी उस मूल्य पर सोना खरीदा जा सकता है जो सम्पूर्ण युद्ध काल में १६८ शिलिंग पर स्थिर रहा और अब बढ़ कर १७२ शिलिंग ३ पेंस हो गया है। सितम्बर १९३८ के पश्चात् ऐसे आंकड़े प्रकाशित नहीं हुए जिनसे यह पता चल सके कि इस खाते में केवल सोने का परिमाण क्या है, किन्तु सोने और अमरीकी डालरों की इसकी सम्पत्ति महायुद्ध के प्रथम १८ महीनों में बहुत कम हो जाने के उपरांत दिसम्बर १९४६ में ६४२० पौंड की थी।

अध्याय ३ में सामान्य मुद्राओं के जिस जटिल ढंग की चर्चा की गयी है (यद्यपि वहाँ उसका विस्तृत विवेचन नहीं किया गया) अमरीका में उसका सरलीकरण किया जाता रहा है। सरलीकरण की यह प्रक्रिया अभी पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु इस समय जनसाधारण और साधारण बैंकों के अधीनस्थ सामान्य मुद्रा का लगभग ८० प्रतिशत भाग फेडरल रिजर्व नोटों के रूप में है और कोई ७ प्रतिशत रजत प्रमाण-पत्रों (Silver Certificates) के रूप में है। 'न्यू डील' के प्रारम्भिक

दिनों में ऐसे कदम उठाये गये थे जिनसे सोने के समस्त सिक्कों और स्वर्ण प्रमाण-पत्रों (Gold Certificates) को चलन में न रहने दिया जाय और फैडरल रिजर्व बैंकों का सारा सोना वहाँ से हटा कर राज-कोष में रख दिया जाय तथा उसका स्थान एक नये ढंग के स्वर्ण प्रमाण-पत्र को दे दिया जाय जो इस सोने के बदले जारी किये जायं और जिनके वास्तविक स्वरूप के तौर पर रिजर्व बैंकों के लिए अपने नोटों और निक्षेपों, दोनों के बदले निम्नतम प्रतिशत रकमें रखना अनिवार्य हो (अध्याय ३)। अमरीका में ये प्रतिशत, मंदी के दिनों में भी, कम नहीं होने दिये गये जैसा कि प्रतिशत-प्रणाली स्वीकार करने वाले अधिकतर देशों में हुआ था (एकतन्त्रात्मक जर्मनी और इटली में तो वह सर्वथा समाप्त कर दिये गये)। अमरीका से तो १९४५ में कहीं जाकर, युद्ध-कालीन वित्त-व्यवस्था का, उसके अन्तिम दौरों में, पोषण करने के लिए उन दोनों को कम करके २५ कर दिया गया। १९३३ से फैडरल नोट विधि-ग्राह्य हैं और ऐसा जान पड़ता है कि अब उनका वर्गीकरण एक ऐसी निश्चित मुद्रा के रूप में किया जाना चाहिए जो अपरिवर्तनीय हो (अध्याय ३) क्योंकि इस बात को ध्यान में रखते हुए कि वे अब अपने आप में ही "विधि विहित मुद्रा" हैं, भूतकाल से चली आती इस धारा का कोई विशेष अर्थ नहीं दिखाई देता कि उन्हें राजकोष अथवा किसी भी रिजर्व बैंक में ले जाकर विधि विहित मुद्रा में बदला जा सकता है। जनवरी १९३४ के स्वर्ण रिजर्व अधिनियम (Gold Reserve Act of January 1934) द्वारा सोने के सिक्कों का ढलना बन्द हो जाने के कारण उस समय के बाद से उक्त अधिनियम की इस धारा के अनुसार कि स्वर्ण डालर का मूल्य राष्ट्रपति द्वारा पुरानी स्वर्ण समता के ५० और ६० प्रतिशत के बीच किसी बिन्दु पर निर्धारित हो अथवा राष्ट्रपति का यह निर्णय कि उक्त प्रतिशत ५९·०६ हो, कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। सामान्यत: जिसे स्वर्ण मान कहकर पुकारा जाता है, १९३४ के बाद से अमरीका को उस पर टिकाये रखने वाला प्रक्रियात्मक

साधन तो राजकोष के सचिव (Secretary of the Treasury) द्वारा किया गया यह ऐलान जान पड़ता है कि वह वस्तुतः लगभग ३५ डालर प्रतिशत औंस की समान कीमत पर सोना ख़रीदने और कुछ चुने हुए केन्द्रीय बैंकों के हाथ लगभग उसी कीमत पर सोना बेचने (यद्यपि उसका यह अधिकार सुरक्षित रहेगा कि वह किसी प्रकार का नोटिस दिये बिना कीमत बदल सकता है अथवा इस व्यवस्था को सर्वथा समाप्त कर सकता है) के लिए तैयार रहेगा।

§५. **नवीन मौद्रिक संस्था** (The New Monetary Club)—इन उत्तेजनापूर्ण वर्षों के उलझे हुए मुद्रा-इतिहास में हमें दो अलग-अलग रंग की धाराएँ बहती दिखाई देती हैं—दो विरोधी प्रभाव कार्य करते दिखाई देते हैं जो राष्ट्रों के परामर्शदाताओं को इधर अथवा उधर धकेलते अथवा यहाँ तक कि रूजवैल्ट और केन्स जैसे उन अद्वितीय व्यक्तियो के विचारों, कथनों एवं कार्यों को भी प्रभावित करते जान पड़ते हैं जिनके कन्धों पर घटनाओं का निर्देशन करने का भार अपेक्षाकृत अधिक था। एक ओर तो यह दृढ़ निश्चय प्रकट हो रहा था कि मुद्रा को राष्ट्रीय आर्थिक नीति का सेवक बनाया जाय, स्वामी नहीं—चाहे वह नीति मुख्यतः आपत्तियों का शमन करने में संलग्न हो, चाहे युद्ध की तैयारी में अथवा युद्ध कालीन अर्थ-व्यवस्था को भली प्रकार चलाने के लिए हो अथवा युद्धोत्तर कालीन पुनर्निर्माण के लिए। दूसरी ओर इस विचार को मान्यता प्रदान की जा रही थी कि सबसे अलग-अलग रहकर कोई भी राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता और यदि समस्त राष्ट्र एक दूसरे के कंधों पर पैर रखकर अपनी पताका फहराने का संकल्प करेंगे तो बहुत सम्भव है कि वे सब ही धूल में मिल जायं। ये दोनों धाराएँ उस दुर्बोध साधन में स्पष्ट दिखाई देती हैं जिसे औपचारिक रूप से १९४४ के संयुक्त राष्ट्रीय मौद्रिक तथा वित्तीय सम्मेलन का अन्तिम अधिनियम (Final Act) कहकर पुकारा जाता है, जिसकी रचना उस समय विजय पथ पर बढ़ते राष्ट्रों ने संसार के

युद्धोत्तरकालीन मुद्रा सम्बन्धी मामलों की श्रेष्ठतर व्यवस्था करने के लिए की थी और जिसने १९४६ में दो नवीन संस्थाओं—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) को जन्म दिया। अब तक जिन ४४ राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रति आस्था प्रकट की है उनमें से प्रत्येक ने अपनी मुद्रा इकाइयों के लिए सोने अथवा १ जुलाई, १९४४ को प्रचलित डालर के समान वजन और कोटि के अमरीकी डालर की विधा में "सम मूल्य" (par value) की घोषणा कर दी है। कुछ देशों ने शीघ्र ही इस प्रकार की घोषणा करने का वचन दिया है। इन देशों ने सम्मिलित रूप से (यद्यपि केवल यदि अमरीका और ब्रिटेन व्यक्तिगत रूप से सहमत हों तो) मिल-जुलकर उन सम मूल्यों को किसी भी दिशा में परिवर्तित करने का अधिकार सुरक्षित रखा है। इस प्रकार उन्होंने इस आलोचना से पहले ही अपनी रक्षा कर ली है कि उन्होंने अपने भाग्य को सदा के लिए एक स्वेच्छाचारिणी सुनहरी धातु के मन की तरंग के साथ जकड़ लिया है (अध्याय ७)। इस समय इस प्रकार के किसी परिवर्तन की सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त, और विशेष मामलों में की जाने वाली कुछ खास-खास प्रारम्भिक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राष्ट्रों को एक आधारभूत असंतुलन ठीक करने को छोड़कर किसी और उद्देश्यों से अपने सममूल्यों में परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए और उस दिशा में भी यदि अभिलाषित परिवर्तन १० प्रतिशत से अधिक हो तो उन्हें उस समय तक कोष के अधिकारियों की सहमति के बिना उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ही ऊपर नहीं लेना चाहिए जब तक कि वे इस संस्था को छोड़ देने के लिए तैयार न हों। उन्हें विनिमय की स्थिरता को अवश्य प्रोत्साहन देना चाहिए, स्पर्धात्मक विनिमय परिवर्तनों और शेख्टियन युग (Schachtian epoch) के मिथ्या भयों—मुद्रा के पक्षपातपूर्ण प्रबन्धों और मुद्रा

सम्बन्धी नेकानेक प्रथाओं—से अपने को अवश्य बचाना चाहिए। चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के लिए भुगतान करने और मुद्रा के स्थानान्तरणों पर रुकावटें वे भले ही न लगाएं और अपने आपको नियम पालन में सहायता देने के लिए प्रत्येक सदस्य, कुछ सीमाओं में और ऐसी दुष्कर शर्तों के अनुसार जिनका यहाँ विवेचन नहीं किया जा सकता उस संग्रह (pool) में भागीदार भले ही हो जाय जिसमें संस्था की वर्तमान सदस्यता के आधार पर लगभग १९२०० लाख पौंड की रकम है—इसका एक अंश (लगभग ३३०० लाख पौंड) सोने के रूप में है और एक अंश प्रत्येक सदस्य की मुद्रा के दावों के रूप में। आशा की जाती है कि इस प्रकार प्रत्येक देश इस योग्य हो जायगा कि वह ऐसी अवधियों में जबकि उसकी अर्जन-शक्ति अस्थायी रूप से बाहरी संसार से की जाने वाली उसकी सामान्य खरीद से कम हो जाती है, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता को क्षति पहुँचाने वाले उपायों का अवलम्बन किये बिना अपना काम निकाल सके।

अतः यहाँ करने के लिए तो अच्छा काम है किंतु जिस तरुण बछिया को यह काम सौंपा गया है उससे यदि दूध पाने की भी आशा की जायगी—वही दूध जो युद्ध से सन्तप्त राष्ट्रों को फिर से स्वास्थ्य की उस सामान्य स्थिति में लाने के लिए आवश्यक है जिसमें कि वे उन चालू अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के सम्बन्ध में अपने खाते संतुलित करने का कार्य गम्भीरतापूर्वक और सामान्य तथा अस्थायी से अधिक भूलें किये बिना ही करने में प्रयत्नशील हो सकें—तो क्या इस प्रकार उस बछिया की कमर नहीं टूट जायगी ? वस्तुतः यही वह चिंता थी—यह चिंता कि कहीं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अधिकाधिक उस जन्तु का स्वरूप धारण न करने लगे जिसे किसान द्विव उद्देशीय पशु कहकर पुकारते हैं—जिसके कारण वाशिंगटन की इस पशुशाला के समीप ही एक चरनी में उक्त पशु के एक साथी—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—को लाकर रखा गया। यही वह पशु है जो पुराने देशों के पुनर्निर्माण और तथाकथित नये देशों

के विकास के लिए दूध के मुख्य घूंट उपलब्ध करेगा। यह दूध वह अंशतः उस मांस की सहायता से देगा जो उन राष्ट्रों ने इसके शरीर पर चढ़ाया है जिन्होंने मिलकर इसे जन्म दिया है (वही संस्था जिसका कोष पर स्वामित्व है) किन्तु मुख्य रूप से यह दूध वह संस्था के अधिक धनी सदस्यों के निजी विनियोग बाजारों में चर कर उसके परिणामस्वरूप देगा। जिस समय यह अध्याय लिखा जा रहा है, उस समय इस पशुशाला से बाहर वालों के ५७५० लाख पौंड मूल्य के दूध के लिए आर्डर प्राप्त हो चुका है जबकि भीतर से बहुत ही धीमी आवाज सुनाई दे रही है; किन्तु अभी तो ये प्रारम्भिक ही दिन हैं[1]। इसके साथ-ही-साथ कुछ तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और तरीकों से कुछ विशेष प्रबन्ध भी किये जा रहे हैं। अमरीका से लगभग ९३०० लाख और कनाडा से लगभग ३१०० लाख के डालर-ऋणों विशेषतः उक्त दोनों संस्थाओं के आधार, ब्रिटेन की तात्कालिक आवश्यकताओं का ध्यान रखने का प्रबन्ध किया जा रहा है। जिस समय उन ऋणों की व्यवस्था की गई थी उसकी तुलना में अब यह अपेक्षाकृत कम पर्याप्त दिखाई देता है क्योंकि अमरीकी कीमतें बहुत अधिक बढ़ गई हैं और अविवेकपूर्ण क्षणों में ब्रिटेन द्वारा जर्मनी का एक बड़ा भाग अस्थायी रूप से अपने में मिला लिया जाने का परिणाम यह हुआ है कि उसे डालरों के एक भारी व्यय का सामना करना पड़ रहा है।

अब हम फिर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को लेते हैं। कोष की युवावस्था के अनुभवशून्य दिनों में उससे की जानेवाली मांगें सीमा में रखने के लिए अन्य प्रबन्ध भी किये गये हैं। इतना ही नहीं कि पूंजी बटोरने का भार अपने ऊपर लेना उसके लिए अनावश्यक है, अपितु

---

१. मई १९४७ में फ्रांस को ६२० लाख पौंड की सहायता दी गयी है।

उसके लिए यह कार्य वांछित ही नहीं है। राष्ट्रों ने उस पर प्रलोभन मुद्रा (Greed money) और भयाक्रान्त मुद्रा (funk money) का भार न डालने का वचन दे रखा है। चालू सौदों के लिये किये जाने वाले भुगतानों और हस्तान्तरणों में जिन्हें सीमित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि मुख्यत: इसी के लिए तो कोष का आश्रय लेना पड़ता है। 'क' द्वारा 'ख' से किये गये आयात का, 'क' के आयातों अथवा सेवाओं पर 'ग' द्वारा किये गये युद्धकालीन व्यय के परिणामस्वरूप 'क' के अधिकार में आने वाली 'ग' मुद्रा का समावेश नहीं है। उदाहरणार्थ इसमें भारत के रिजर्व बैंक के १२००० लाख पौंड ब्रिटिश मुद्रा के उन दावों का समावेश नहीं है जो अमरीकी माल की खरीद पर खर्च हुए थे। ऐसे मामले सम्बद्ध पक्षों के बीच होने वाले विशेष प्रबन्धों द्वारा हल करने के लिए छोड़ दिये गये हैं। प्राय: चालू भुगतानों पर प्रतिबन्ध हटाने के पहले सदस्य देश को सांस लेने के लिए कुछ समय दे दिया जाता है और इस अवधि में मुद्रा कोष रूपी डाक्टर उसके फेफड़ों की देख-भाल भी करता रहता है। जहाँ तक ब्रिटेन का सम्बन्ध है, उसने तो अमरीका से लिए गये ऋण की एक शर्त के रूप में ही जुलाई १९४७ से सामान्यत: सांस लेने का वचन दे दिया था। यदि किसी देश की मुद्रा की मांग बहुत अधिक बढ़ जाय और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास उस मुद्रा की पूर्ति समाप्त होती दिखाई दे तो ऐसी दशा में कोष द्वारा इस मुद्रा में सदस्य का भाग निश्चित कर दिया जाता है और प्रत्येक देश को यह छूट भी मिल जाती है कि जिस तरीके से भी वह ठीक समझे उस मुद्रा की अपनी मांग घटाए। अन्तत: यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह व्यवस्था निश्चित रूप से केवल मौद्रिक प्रतिबन्धों—भुगतान अथवा हस्तान्तरणों पर लगाये गये प्रतिबन्धों—के साथ ही सम्बन्ध रखती है; माल के आयात पर प्रत्यक्ष रूप से रोक-टोक लगाने के सम्बन्ध में यह कुछ नहीं कहती। यह तो मान लिया गया है कि इस व्यवस्था की मूल भावना यह अपेक्षा रखती है कि इस

समस्या के समाधान के लिए समानान्तर दिशाओं में भी प्रयत्न किये जायेंगे और जिस समय यह अध्याय लिखा जा रहा है, इस दिशा में प्रारम्भिक कदम उठाए जा चुके हैं।

आखिर इन समस्त बड़ी-बड़ी सावधानियों की पृष्ठभूमि में क्या छिपा है जो राष्ट्र इस नवीन मौद्रिक संस्था के प्रति अपनी आस्था दिखाने के लिए कर रहे हैं और जो निःसन्देह उतने ही अधिक जोर-शोर से उस समय सामने आयेंगी जब नई व्यापार संस्था (Trade Club) की स्थापना होगी ? इस प्रश्न के उत्तर का प्रमुख भाग एक सदस्य देश की अद्वितीय सम्पत्ति और आर्थिक शक्ति में निहित है। पाठकों को स्मरण होगा कि १९२८ में भी यह कहा जा सकता था कि अमरीका एक निजी व्यवस्थित मान पर आधारित था, जबकि शेष संसार डालर मान को अपनाये हुए था। यद्यपि इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अमरीकी मान के व्यवस्थापक, वे पूर्णतः बुद्धिमान हों अथवा न हों, सर्वशक्तिमान नहीं थे, तथापि संसार के मौद्रिक रिज़र्वों को अमरीका की ओर आकर्षित करने वाली शक्तियाँ निरन्तर सबल होती गयीं। सबसे पहले तो अमरीका द्वारा अपने ऋण यूरोप से वापिस ले लेने और उसके परिणामस्वरूप भयाक्रान्त मुद्रा की उड़ान के कारण और फिर युद्ध में लगे राष्ट्रों की अमरीकी माल खरीदने की इच्छा के कारण अमरीका का सोने का स्टाक १९२८ और १९४१ के बीच वजन में तिगुना हो गया और इस प्रकार वह समस्त संसार (सोवियत् संघ के अतिरिक्त) के कुल मौद्रिक स्वर्ण के स्टाक के लगभग दो-तिहाई भाग के बराबर हो गया। १९४६ के अन्त तक मुख्यतः उधार-पट्टा प्रणाली के माध्यम द्वारा उसके मित्र-देशों को दी गयी सहायता और युद्धोत्तरकालीन विभिन्न उपहारों और ऋणों के फलस्वरूप अमरीका के स्वर्ण स्टाक में लगभग एक दशमांश कमी हो गयी है और विश्व के स्टाक से इसका अनुपात आधे से बहुत अधिक नहीं रहा है। प्रत्यक्षतः अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के माध्यम

द्वारा अमरीका आगे चलकर जो ऋण देगा उनके अतिरिक्त अमरीकी सीमाओं के भीतर कुछ देशों के उल्लेखनीय डालर अवशेष (Dollar Balances) और अन्य आसानी से वसूल हो जाने वाले परिसम्पत् हैं जिनकी सहायता से वे अपने खातों का संतुलन कर सकते हैं, तथापि कुछ दूर तक देखने पर यह चिन्ता बढ़ती ही जाती है कि आखिर अमरीका अपनी आदतों को कितना परिवर्तित और नियंत्रित कर सकेगा जिससे कि वह लगातार अत्यधिक परिमाण में, अपने उत्पादनों के बदले, वे समस्त वस्तुएँ और सेवाएं ख़रीदता रहेगा जो संसार उसके हाथ बेच सकता है। यदि अमरीका ऐसा नहीं कर सकता तो वह ऋणों द्वारा निकट भविष्य में उपस्थित होने वाली खाई चाहे कितनी भी उदारतापूर्वक क्यों न पाटता रहे अन्ततोगत्वा उन ऋणों की सेवा से असंतुलन में ही एक तत्व की वृद्धि होगी और इसका फल यह होगा कि नवीन अर्ध-स्वर्ण मान (new quasi gold standard) के योजक अंगों में एक दरार ही पड़ जायगी। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का यह कर्तव्य है कि वह इस आन्दोलन के सूत्रपात को लिपिबद्ध करदे। वह इसकी सफलता की कामना भी करता है, किन्तु १९४७ की इस वसन्त में यह भविष्य वाणी करना उसके वश की बात नहीं है कि इसमें विश्व की वास्तविक और स्थायी मौद्रिक एकता के बीज निहित हैं या नहीं।

अध्याय १०

शब्द, विचार और क्रिया की समस्याएँ

(Problems of Words, Thought and Action)

समस्त प्राणी जिस ढंग से वाद-विवाद किया करते हैं, वह वास्तव में अत्यन्त भयंकर है, वह अपने आप से बोली, "किसी को पागल बना देने के लिए वह पर्याप्त है।" —एलिसिज एडवेन्चर्स इन वुडलैंड

§१. कीमतें और उत्पादन (Prices and Output)—पिछले अठारह वर्षों में होने वाली उत्तेजनापूर्ण घटनाओं ने स्वभावतया मौद्रिक विषयों के सम्बन्ध में विचार और तर्कशीलता को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया है। यदि आप यह छोटी-सी पुस्तक पढ़ने के उपरान्त आधुनिक मौद्रिक सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन करने के इच्छुक हैं तो आप अपने को मतभेद के एक बीहड़ जंगल में खड़ा पाएंगे जिसका कुछ भाग अत्यधिक मिथ्या होगा और कुछ अपेक्षाकृत तीखा। मैं उस जंगल में तो आपका साथ नहीं दे सकता। यहाँ मैं उन सब बातों का सारांश भी प्रस्तुत नहीं कर सकता जिनका विस्तृत उल्लेख मैंने एक अन्य पुस्तक[१] में किया है। मैं यह चाहता हूँ कि आप वह पुस्तक अवश्य पढ़ें। किन्तु मैं किसी प्रकार की तैयारी के बिना आपको उक्त जंगल में प्रवेश करने देना भी पसन्द नहीं करता। अतः मैं इस अन्तिम अध्याय में उन बातों का तनिक परिचय देने का प्रयत्न करूँगा जिनका सम्बन्ध इनमें से कुछ मतभेदों के साथ है। मैं यह परिचय इस ढंग से दूँगा जिससे इस बात पर यथेष्ट बल दिया जा सके

---

१. एसेज् इन मानिटरी थ्योरी, १९४०, पुनर्मुद्रित संस्करण १९४६ (स्टेपल्स प्रेस) विशेषतः संख्या ११ ए सर्वे आफ मार्डन इकनामिक कन्ट्रोवर्सी।

कि ये विषय अत्यन्त जटिल हैं जिनके सम्बन्ध में लोग अभी तक वाद-विवाद कर रहे हैं और आपको उनके सम्बन्ध में दूसरों के विचारों से अवगत होकर अपने तौर पर स्वतन्त्र निर्णय एवं निश्चय करने होंगे। यदि आप विद्वत्तापूर्ण व्यक्तियों के वाक्चातुर्य एवं तर्क-प्रियता के लिए तनिक छूट दे दें तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वास्तव में उनका पारस्परिक मतभेद उतना अधिक नहीं है जितना वे समझना पसन्द करते हैं।

सर्वप्रथम आप जिस प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ चर्चा सुनेंगे वह यह है कि मौद्रिक सिद्धान्त क्या है और हमें इसका अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए ? इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में मैंने परम्परा का पालन करते हुए मुद्रा के मूल्य को अपने चित्र का केन्द्र-बिन्दु माना था और यह दिखाया था कि मुद्रा का मूल्य मांग और पूर्ति की विभिन्न शक्तियों का परिणाम है। (मांग की शक्तियों में से एक वास्तविक राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन का स्तर भी था।) कुछ आधुनिक लेखकों ने इस परिपाटी का तिरस्कार किया है। इनमें से एक लेखक [1] ने तो एक बार यहाँ तक कह डाला कि अर्थशास्त्रियों ने यह कल्पना करने की भूल की है कि तथाकथित मुद्रा के सिद्धान्त का समुचित विषय मूल्यों का स्तर है, उत्पादन का परिमाण नहीं।" यदि मैंने ठीक प्रकार समझ पाया है तो उक्त लेखक का यह सुझाव है कि हमें इस विचार को दो विभिन्न कक्षों में विभाजित कर देना चाहिए—(१) स्वयं मुद्रा का सिद्धान्त और (२) उत्पादन अथवा नियोजन का सिद्धान्त। पाठक-गण, मैं तो ऐसा नहीं समझता कि मैं भूल में हूँ अथवा मैंने आपको भुलावे में डाला है। मैंने तो बहुत पहले ही (अध्याय १) आपको बता दिया था कि मुद्रा-मूल्य की

१. जान राबिन्सन, रिव्यू आफ इकनामिक स्टडीज़, १९३३-३४, पृष्ठ २६।

अस्थिरता के सम्बन्ध में हमारी चिन्ता का एक प्रधान कारण है व्यापारिक मंदी और बेकारी के साथ उसका सम्बन्ध। मैंने तो आपको यह चेतावनी भी दे दी थी (अध्याय २) कि परिवर्तन की विधियों का अध्ययन करते समय मुद्रा की मांग और उसकी पूर्ति को अलग-अलग अथवा स्वतन्त्र शक्तियों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक दूसरे को प्रभावित करती तथा एक दूसरे से प्रभावित होती हैं। इस शताब्दी के तृतीय दशक के प्रारम्भिक वर्षों की भीषण मंदी के प्रभात काल के लेखकों के लिए तो कदाचित् यह स्वाभाविक ही था कि वह उस सीमा पर विशेष रूप से बल दें जहाँ पहुँचकर मुद्रा की मांग में होने वाला विस्तार उत्पादन और नियोजन में वृद्धि करने के लिए अपना पूरा प्रभाव डालता है और कीमतों के बढ़ाने के लिए बिल्कुल प्रभाव नहीं डालता[1] किन्तु हम एक ऐसी स्थिति, जबकि साधन बेकार पड़े हों और एक ऐसी स्थिति के बीच निश्चित रेखा नहीं खींच सकते (जैसा कि कुछ लोगों ने किया है) जबकि हमारे सम्मुख पूर्ण नियोजन जैसी कुछ निश्चित वस्तु होती है। १९४७ की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक पुनरुत्थान के किसी भी दौर में "रुकावटें" सामने आकर खड़ी हो सकती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रथम रुकावट सामने आते ही उन सब प्रकार की विस्तार

१. ऐसी ही स्थिति १८९४-९६ में अमरीका में व्याप्त दिखायी देती है जबकि अधिक परिमाण म सोने के निर्यात के प्रथम प्रभाव शमनकारी और उपचारात्मक ही जान पड़े। दूसरी ओर, १९०८ के अवरोध के उपरान्त पुनरुदय के प्रथम दौर मुख्यतः कच्चे माल की कीमतों के क्षेत्र में सट्टे बाजी का-सा स्वरूप धारण कर लिया। देखिए मेरी पुतक "स्टडी आफ इण्डस्ट्रियल फ्लक्चुएशन, पृष्ठ २२९-३१। वास्तव में नयी बात तो कछ भी नहीं होती किन्तु इतिहास के पाठों को पढ़ना तथा समसामयिक परिस्थितियों में उनका आरोप करना सदैव सरल नहीं होता।

नीतियों का त्याग कर देना चाहिए जिनकी सराहना अध्याय ८ में की गयी थी। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि उन नीतियों का पालन उस समय तक करते ही रहना है जब तक कि अन्तिम रुकावट भी दूर न हो जाए किन्तु इस बात का निर्णय करने के लिए कि उन पर किस हद तक दबाव डाला जाए अर्थशास्त्र को दो विभिन्न शाखाओं—मुद्रा सिद्धान्त और उत्पादन सिद्धान्त—में विभाजित करने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यदि हम इसे यह रूप देना चाहेंगे तो इसका परिणाम यह होगा कि मंदी के अन्तराल में केवल उत्पादन सिद्धान्त जान पड़ने वाली वस्तु अज्ञात रूप से शीघ्र ही मूल्यों और उत्पादन के सिद्धान्त का रूप धारण कर लेगी और अन्त में केवल मूल्यों का सिद्धान्त मात्र रह जाएगी। पाठकगण, मैं समझता हूँ कि तनिक विचार करने के उपरान्त आप इस कारण मुझ पर दोषारोपण नहीं करेंगे कि मैंने आपको एक ऐसा यन्त्र साथ लेकर भीषण यात्रा का आरम्भ कर लेने दिया जिसके सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए मैंने (अध्याय २) आपको यह बता दिया था कि इसका प्रयोग अशान्तिपूर्ण प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने की अपेक्षा स्थिर एवं शान्त परिस्थितियों की तुलना करने के लिए अधिक आसानी से किया जा सकता है। मैंने यह स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया था कि थोड़ी-सी युक्ति और कल्पना शक्ति से उसका प्रयोग अशान्तिपूर्ण प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने के लिए भी किया जा सकता है।

§२. **बचत और पूँजीगत व्यय** (Saving and Capital Outlay)—जब मैं उस बात का उल्लेख करूँगा जिसके लिए यदि स्पष्टवादिता से काम लिया जाय तो कहा जा सकता है कि उसके सम्बन्ध में कुछ लोगों ने बहुत-सी अनावश्यक उलझन पैदा कर रखी है। उन लोगों पर यह दोषारोपण करते समय मैं पल भर के लिए यह मान लेता हूँ कि स्वयं मेरा पक्ष सर्वथा निर्दोष है। बैंक-प्रणाली, बढ़ते हुए मूल्यों के रूप में जब जन-साधारण पर एक भार डालकर

जिस तरीके से भौतिक पूँजी की वृद्धि सम्भव कर सकती है उसका उल्लेख करते समय मैंने, अन्य अनेक पूर्ववर्ती लेखकों के अनुकरण पर, उस भार को "अनिवार्य बचत" (अध्याय ५ तथा ८) कहकर पुकारा था। कदाचित् एक अन्य लेखक, प्रोफेसर पीगू, का अनुकरण करके इस भार को एक अधिक अस्वीकारात्मक नाम—"अनिवार्य उपकर" (forced levy) —देना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होता। अध्याय ५ में मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है कदाचित् उसका कुछ अधिक स्पष्टीकरण करके यह कह देना उचित होता कि हमारे वर्तमान समाज में, जहाँ कुछ मुद्रा-आय मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों से आसानी से प्रभावित हो जाती है और कुछ बहुत ही सुदृढ़ता का परिचय देती हैं (अध्याय १), यह सम्भव होता है कि उक्त भार का वहन प्रधानतः लोगों का एक वर्ग करे और मुद्रा अवशेषों (Money Balances) की वृद्धि की बचत पर अधिकार एक दूसरे ही वर्ग का होता है। मैं इस कथन को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ कि जनता पर लगाये जाने वाले इस एक प्रकार के उपकर (जिसे अनिवार्य बचत अथवा ऐसा ही कुछ अन्य नाम दिया जाता है) का विचार ही मूलतः निराधार है और इसकी गणना निकृष्टतम उलझनों में[1] की जानी चाहिए। ऊपर खंड १ में मैंने जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मैं उपकर के इस विचार की वेधना को केवल उस विषय तक ही सीमित नहीं मानता जिसका उदाहरण मैंने अध्याय ५ में किया था और जिसमें एक ऐसी स्थिति का उल्लेख किया गया था जबकि मौद्रिक विस्तार से उपभोक्य वस्तुओं के प्रस्तुत उत्पादन को किसी भी प्रकार की वृद्धि की प्रेरणा नहीं मिलती और इस प्रकार उनकी कीमतें मौद्रिक माँग के प्रवाह में होने वाली वृद्धि के पूरे अनुपात के अनुसार

---

१. केन्स सैंट्रल थ्योरी आफ एम्पलायमेंट, इन्टवेस्ट एण्ड मनी (पृ० १८३)।

बढ़ जाती हैं। जो स्थितियाँ इससे कुछ कम चरम सीमा की होती हैं उनमें भी उपकर तो होते हैं किन्तु उनका परिमाण अपेक्षाकृत कम रहता है। किन्तु चरम सीमा की स्थिति में अथवा अधिक सामान्य स्थिति में भी न तो हम यह निष्कर्ष निकालने के लिए वाध्य हैं और न हमें यह निर्णय देने का अधिकार ही है कि समस्त परिस्थितियों में इस प्रकार का उपकर अनिवार्यतः अवशेष (Balance) पर "एक बुरी वस्तु" है।

मैंने अपवाद-स्वरूप जिस विचार-धारा को अपनाया है उसके पीछे जो तर्क काम करता दिखायी देता है उसका उल्लेख सरल भाषा में इस प्रकार किया गया है[1] "सब प्रकार की आय या तो उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन से होती है या विनियोग की वस्तुओं के उत्पादन से। इसी प्रकार सम्पूर्ण आय या तो उपभोग्य वस्तुओं पर खर्च कर दी जाती है या बचा ली जाती है। उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन से होने वाली आय उन पर होने वाले व्यय के बराबर होती है। अतः बचत उस आय के बराबर होती है जो विनियोग की वस्तुओं के उत्पादन से प्राप्त होती है। संक्षेप में, बचत की दर विनियोजन की दर के बराबर होती है।" प्रत्यक्षतः यदि हम उपयुक्त ढंग से अपने पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा करें (और इसका अर्थ यह है कि अन्य बातों के अतिरिक्त विनियोजन की वस्तुओं के रूप में अस्थायी पूंजी (अध्याय ५) की वृद्धियों की गणना करना—आगे चलकर हम इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे) तो यह कथन सत्य सिद्ध होता है क्योंकि ऐसे ही कथनों को 'पुनरुक्ति' कहकर पुकारा जाता है। हम पुनरुक्तियों का तिरस्कार नहीं कर रहे हैं, कभी-कभी वे बहुत लाभदायक सिद्ध होती हैं किन्तु मैं यह बात तो निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि इस विशेष प्रकार की पुनरुक्ति पर बल देने से हमारे निर्णय में उलझन पैदा होने की सम्भा-

१. जाम राबिन्स, इन्ट्रोडक्शन टू दि थ्योरी आफ एम्पलायमेंट पृष्ठ ८।

बना है। उदाहरणार्थ यही वह तरीका है जिसके अनुसार एक आधुनिक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री[3] ने उक्त पुनरुक्ति (जिसके अन्वेषण का श्रेय उन्होंने आधुनिक आर्थिक गवेषणा को दिया है) को इन विचारों के क्रम से प्रस्तुत किया है जिनका यह समर्थन करती रही है: "पूँजीगत व्यय अपने आप ही उस बचत को जन्म दे देता है जिसकी इसके वित्त-पोषणा के लिए आवश्यकता होती है।" क्या इस वाक्य का पूरा आशय यह नहीं जान पड़ता कि—"और इसलिए इसे एक व्यापक पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता ?" फिर भी हम जानते हैं कि दूसरी बात सही नहीं है। ग्रीस मे जर्मन सेना के व्यय ने ही (इस सम्बन्ध में सरकारी घाटों आदि की गणना अवैतनिक विनियोग (Honorary Investment) के अन्तर्गत होती है) इस व्यय के वित्तपोषण के लिए आवश्यक बचत को इस अर्थ में जन्म दिया कि प्रतिक्षण कोई निर्धन देव हजार ड्राशमा (Drachma) के नोटों में से प्रत्येक को पकड़े दिखायी देता था जो इतनी अधिक सख्या में बाजारों में डाले जा रहे थे। यदि हम इस पुनरुक्ति को अपेक्षाकृत कम प्रवृत्यात्मक ढंग से कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करें कि "सम्पूर्ण मुद्रा जो कहीं भी दिखायी देती है वास्तव में कहीं-न-कहीं होती है" तो कदाचित् हम स्पष्टत: यह अनुभव कर सकेंगे कि इसे तैयार करने के लिए भले ही कितनी भी "आधुनिक आर्थिक गवेषणा" का प्रयोग न किया गया हो, जब तक हम इसके अन्तराल में झाँककर यह देखने का प्रयत्न नहीं करते कि किसी भी विशेष मामले में वास्तव में हो क्या रहा है तब तक यह उक्ति सर्वथा निस्सार है। अध्याय ५ में मैंने जिन विभिन्न कथा-कहानियों का उल्लेख किया है उनके द्वारा मैंने साधारण ढंग से यही कार्य करने का प्रयत्न किया है।

जिन लेखकों की मैं चर्चा कर रहा हूं वास्तव में उनके अवचेतन

---

१. बीवरिज, फुल एम्पलायमेंट इन ए फ्री सोसायटी, पृ० ३३ ।

सन में यह सत्य अवश्य उपस्थित है क्योंकि वे लोग प्राय: प्रत्यक्षत: यह अनुभव किए बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं, इस महत्त्वपूर्ण कथन का समर्थन करते-करते (जो कार्य प्रत्येक समय में—चाहे वह कितना भी थोड़ा अथवा अशान्त क्यों न हो—पूरा करना अनिवार्य है) इसमे विपरीत ही कुछ कार्य करने लगते हैं। उदाहरणार्थ वे इस बात पर बल देते हैं कि समय की प्रति इकाई में सदा के लिए पूंजीगत व्यय की दर में होने वाली एक निश्चित वृद्धि कुछ समय के उपरान्त समय की प्रति इकाई में प्राप्त की जाने वाली मुद्रा आय की दर में बिल्कुल उतनी ही वृद्धि करती दिखाई देगी और इसके उपरान्त समय की प्रति इकाई के अनुसार अतिरिक्त मुद्रा-बचत की दर समय की प्रति इकाई के अनुसार पूंजीगत-व्यय की अतिरिक्त दर के बराबर होगी, मुद्रा आय में इससे अधिक विस्तार नहीं होगा और इसके उपरान्त अर्थ-व्यवस्था अपनी सम गति से बढ़ती रहेगी। इस प्रकार श्रीमती राबिन्सन, ऊपर उद्धृत उद्धरण में यह समझने के उपरान्त कि किस प्रकार बचत का परिमाण और पूंजीगत व्यय का परिमाण (उनकी परिभाषा इस प्रकार करने के उपरान्त जिससे कि वे सर्वथा समान सिद्ध हों) सदा ही आय के प्रत्येक स्तर पर वास्तव में बराबर होता है, कुछ पृष्ठ आगे चलकर यह समझाने का प्रयत्न करती है कि (शब्दों को रेखाँकित मैंने किया है) किस प्रकार आमदनियों में उस बिन्दु तक निरन्तर वृद्धि होना अनिवार्य है जिस बिंदु पर बचत में अतिरिक्त (पूंजीगत) व्यय के बराबर बढ़ोतरी हो जाती है[1]। पाठकगण क्या आप समझे कि यह क्या हुआ ? एक ऐसे निश्चित वाक्य को जिसमें दो विशेषताओं को परिभाषा द्वारा एक समान घोषित किया गया था, एक ऐसे निश्चित वाक्य का रूप दे दिया गया जिसमें यह कहा गया है कि उन दोनों के बीच समता की स्थापना संतुलन की एक आवश्यक शर्त है। मै तो इसे

१. वही पृष्ठ २१।

बहुत ही भ्रामक मानता हूं और समझता हूं कि इस प्रकार के वाक्य लिखने वाले अर्थशस्त्रियों की तुलना एक ऐसे प्रकृति शास्त्रवेत्ता के साथ करके मैंने कुछ अनुचित कार्य नहीं किया है जो एक हाथी की सूंड और उसके मुख के अग्रभाग की परिभाषा समान शब्दों द्वारा करके शरीर-रचना-सम्बन्धी उन गहन शक्तियों का विवेचन करने लगते हैं जो सूंड के आकार को मुख के अग्रभाग के आकार के अनुसार निर्धारित करती हैं ।

अत: जंगल में इन लेखकों से भेंट हो जाने पर आपको सबसे पहला काम यह करना होगा कि आप उन कठिनाइयों से मुक्ति पा लें जो उन्होंने आपके लिए पैदा की हैं । आपको अपने आपको यह समझाना होगा कि जब 'बचत' और 'विनियोग' की समता सारूप्य न मानी जा कर संतुलन की एक शर्त ही मानी जा रही है, जो 'बचत' शब्द का अर्थ इस प्रकार चतुराई के साथ बदल दिया गया है जिससे कि यह आज की आय के उस अंश का द्योतक नहीं रहती जिसे उपभोग्य वस्तुओं पर खर्च करने में लोग वास्तव में असमर्थ रहे हैं अपितु आज की आय के उस अंश का बोध कराने लगती है जिसे वे खर्च करने की इच्छा नहीं रखते अथवा कदाचित् (जो दूसरे शब्दों में) बीते हुए कल की आय का वह भाग हैं जिसे खर्च करने में लोग असमर्थ रहे थे । उधर, इसके सहचर शब्द 'विनियोग' की कथा भी कुछ इसी प्रकार है । मैंने यह संकेत किया था कि मैंने जिस महान् 'पुनरुक्ति' को उद्धृत किया था उसके रूपान्तर में पूँजीगत वस्तुओं की परिभाषा इस प्रकार करना आवश्यक है जिस में कि सब प्रकार की उन वृद्धियों का समावेश हो सके जो वस्तुओं के उत्पादन अथवा संग्रह के दौरान में उनमें होती है । जब तक हम केवल उक्त पुनरुक्ति पर विचार कर रहे हैं तब तक हमें इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं । हमें उस समय तक भी इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं जब तक कि उत्पादन अथवा संग्रह के दौरान में वस्तुओं में होने वाली वृद्धि का स्वरूप सेब की उस खेती की तरह पूर्व-निर्धा-

रित ढंग का रहता है जिसका उदाहरण हमने अध्याय ५ में दिया था किन्तु जब हम संतुलन की दिशाओं पर विचार करते हैं उस समय तो प्रत्यक्षतः इस प्रकार पूर्व-निर्धारित ढंग से अस्थायी पूँजी में होने वाली वृद्धि और कारखानों तथा दूकानों में लगे उस ढेर में वहुत वड़ा अन्तर हो जाता है जिसे, मुद्रा की मांग में ह्रास हो जाने के कारण, विक्रेता उतनी आसानी से नहीं बेच सके जितनी आसानी से उसके विकने की आशा थी। भले ही कुछ समय के लिए कीमतों अथवा उत्पादन में कोई तबदीली न हो किन्तु इस प्रकार की वस्तु-स्थिति और उमसे विपरीत वस्तु-स्थिति जिसमें वस्तुओं के संग्रह आशा अथवा इच्छा से अधिक तेजी के साथ कम हो रहे हैं स्पष्टतः संतुलन के अभाव की द्योतक है। क्योंकि यह इस बात का स्पष्ट लक्षण है कि कीमतों अथवा उत्पादन में परिवर्तन सन्निकट है। अतः वास्तविक विनियोग की समता को नहीं, पूर्व-निर्धारित बचत के साथ पूर्व-निर्धारित अथवा अभीप्सित विनियोग की समता को संतुलन की एक शर्त माना जा सकता है।

किन्तु अच्छे-से-अच्छे ढंग से और चाहे जिन शब्दों की सहायता से (बशर्ते कि तर्क के दौरान में आप उनका अर्थ न बदलें) इन समस्त कठिनाइय पर विजय पाने के पश्चात् आपको स्पष्टता और सावधानी के साथ महत्त्वपूर्ण प्रश्न की परख करने के लिए अधिकतम प्रयत्न करना चाहिए कि इसकी पृष्ठभूमि में क्या छिपा है। किसी समाज के लिए यह कहाँ तक सम्भव हो सकता है कि वह पूँजीगत व्यय बढ़ाकर एक ऐसी स्थिर अथवा संतुलन की स्थिति से आगे बढ़ कर जिसमें उत्पादन और नियोजन कम है एक नयी स्थिर अथवा संतुलन की स्थिति तक पहुँच सके जहाँ उत्पादन और नियोजन अधिक हो—उतना ही नहीं वस्तुतः जिस स्थिति तक पहुँचकर औचित्यपूर्वक यह कहा जा सके कि नियोजन "पूर्ण" है। इस समस्या के सम्बन्ध में इतना अधिक विवेचन किया जा सकता है कि यदि मैं पूरी तरह इस पर प्रकाश डालना आरंभ करूं तो एक नयी पुस्तक ही तैयार हो जाए। किन्तु मैं तो यहाँ बीज-

गणित के उस छोटे से सूत्र को भी लिपिबद्ध नहा करूगा (आपको वह अन्य अनेक पुस्तकों में आसानी से मिल सकता है) जो कुछ विवेचनों में तो जादू के उस कालीन के समान सिद्ध होता है जिसकी सहायता से अत्यन्त सरलता से एक मंच से दूसरे पर पहुँचा जा सकता है। इससे परिचित हो जाने के उपरान्त आपके मस्तिष्क में अनेक प्रश्नों का उदय होगा। सूत्र की एक कुंजी है•••इसका एक अँश है जो समय के विगत खण्ड में अर्जित अतिरिक्त मुद्रा आय के उस अनुपात का प्रतिनिधित्व करता है जिसे लोग समय के इस खण्ड में बचाकर रखना चाहते हैं। क्या यह उचित होगा कि कीमतें परिवर्तित रहने पर भी विस्तार की सम्पूर्ण प्रक्रिया में इस अंश को स्थिर मान लिया जाए ताकि कुल मुद्रा-आय की एक निश्चित वृद्धि का अर्थ कुल वास्तविक आय की उतनी ही वृद्धि माना जा सके ? हमारी कल्पना के अनुसार आखिर उस समय क्या घटना घटित होती है जब कीमतें बढ़ने लगती हैं और इस प्रकार कुल मुद्रा-आय की एक निश्चित वृद्धि का अर्थ कुल वास्तविक आय की न्यूनतर वृद्धि हो जाता है ? इसके अतिरिक्त क्या प्रत्येक दौर में बचायी जाने वाली मुद्रा से यह आशा रखना उचित है कि वह पूँजीगत व्यय की दर को कल्पित मूल वृद्धि का "वित्त-पोषण" करने के लिए उपलब्ध हो रही है अथवा इसमें से कुछ—विशेषत: यदि वह बचत सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों अथवा अपना निजी कारोबार चलाने वालों द्वारा की गयी है—मन चाहे ढंग से सर्वथा भिन्न प्रकार के पूँजीगत व्यय का वित्त-पोषण करने के लिए अलग हो जाएगी। आपको उन समस्याओं पर यथासम्भव अधिक-से-अधिक अच्छे ढंग से विचार करना चाहिए और हमें यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि हम अपने मस्तिष्क उस समय तक खुले रखें जब तक कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों को यह देखने का अधिक अवसर न मिल जाए कि वे इन समस्याओं पर कोई स्थायी प्रकाश डाल सकते हैं या नहीं। किन्तु मेरी अपनी धारणा तो यह है (चाहे इसका मूल्य कुछ भी हो) कि इस तथाकथित बचत की सीमान्त

प्रवृत्ति (यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं है क्योंकि मेरे विचार से बचत की प्रवृत्ति हाल ही में अर्जित आय के अतिरिक्त अनेक बातों—उदाहरणार्थ पूंजीगत सम्पत्ति और कदाचित् विशेष रूप से पूंजीगत सम्पत्ति के उस अनुपात पर निर्भर रहती है जो सुलभ है और जिसे खर्च करना भी सरल है) के रूप में हमें एक छोटी-सी परन्तु बहुत ही क्षमतावान एवं लाभदायक ईंट प्राप्त है किन्तु अभी यह सम्पन्नता और स्थिरता के संयुक्त भव्य भवन की सुदृढ़ आधार-शिला नहीं वन सकी है जिसे यदि हम बनाना जानते तो अवश्य बनाना चाहते।

§३. संचय और असंचय (Hoarding and Dishoarding)–यहां एक अन्य शब्द जाल के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है जिसमें पाठक फंस सकते हैं। यद्यपि मैंने, अपनी इस पुस्तक में, 'संचय' शब्द का प्रयोग नहीं किया है फिर भी मेरे विचार से इसे इस प्रकार व्यक्त करना सुविधाजनक होगा : 'संचय' का आशय मुद्रा को सक्रिय चलन से हटाने की उस विधि से है जिससे मुद्रा-मांग का प्रवाह घटता है और फलस्वरूप मंदी और बेकारी फैलती है। किसी कारणवश, जिसे मैं कभी भी नहीं समझ सका हूं: कुछ लेखक इस शब्द से बहुत चिढ़ते हैं, यहां तक कि इसे आर्थिक शब्द-कोष से निकाल फेंकना चाहते हैं। मेरी समझ में आप ऐसा न चाहेंगे क्योंकि यह एक छोटा-सा सरल एवं भावपूर्ण शब्द है। हां, यह बात अवश्य है कि इसका प्रयोग बहुत ही सावधानी के साथ ऐसे अर्थ में किया जाना चाहिए जिसकी कटु-आलोचना न की जाए। काफी समय पहले इस शब्द की मैंने जो परिभाषा दी थी [1] और जो बहुत-से लोगों को मान्य भी है, वह इस प्रकार है—यदि कोई व्यक्ति (इसमें व्यक्ति-समूह, जैसे सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियों का भी समावेश है) किसी अवधि में

---

१. इक्नामिक जर्नल, १९३३ में पृष्ठ ४०० पर प्रकाशित सेविंग एण्ड होर्डिंग, एसेज इन मानिटेरी थ्योरी में पुनर्मुद्रित।

ऐसी कारवाई करता है जिससे उसकी मुद्रा की कुल मात्रा और उसकी मुद्रा-आय के बीच का अनुपात उस अवधि के आरम्भ के अनुपात की तुलना में बढ़ जाता है तो यह कहा जाएगा कि वह व्यक्ति संचय कर रहा है। संचय-क्रिया का एक सरल उदाहरण उस समय दिखायी पड़ता है जब कोई व्यक्ति अपनी आय का एक भाग बचाता है और उसे किसी बैंक के चालू खाते में जमा करा देता है किन्तु मेरी उपर्युक्त परिभाषा में केवल इसी एक प्रकार की संचय-क्रिया का समावेश नहीं है। यदि एक व्यक्ति (चाहे वह पूर्ण व्यवसायी हो या साधारण पूँजी लगाने वाला) प्रतिभूतियां बेचता है लेकिन उससे प्राप्त होने वाली रकम से अन्य प्रतिभूतियां नहीं खरीदता तो वह संचय करने वाला कहलाएगा। इसी प्रकार वह व्यावसायिक संस्था है जो जनसाधारण से मुद्रा लेती है और उसे उस समय तक के लिए अलग रख छोड़ती है जब तक कि उसके द्वारा श्रम, कच्चा माल या मशीनों का खरीदना सम्भव नहीं होता। अस्तु, कोई भी व्यक्ति जो मुद्रा-आय के प्रवाह में बाधा डालने अथवा मुद्रा-चलन के आय-वेग में कमी लाने के उद्देश्य से कुछ कार्य करता है संचय-क्रिया में संलग्न माना जाएगा (अध्याय २) साधारण व्यक्तियों और व्यवसायों द्वारा संचय तथा बैंक और सरकारों द्वारा मुद्रा का क्षय, इन दोनों के अन्तर्गत वे समस्त क्रियाएं आ जाती हैं जिनसे समय की प्रति इकाई में निर्धारित पूँजीगत व्यय निर्धारित बचत से कम हो जाता है। अब आप अत्यन्त सुगमतापूर्वक इसके अनुरूप असंचय (Dishoarding) की परिभाषा कर सकते हैं और जहां तक मैं समझता हूँ आप इस बात से सहमत होंगे कि कोई भी व्यक्ति जो इस विचार को ग्रहण करने के लिए कष्ट उठाने को तैयार है उसे संचय सम्बन्धी भ्रांतियों के झंझट में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

§ ४ **मंदी और स्थिरता** (Depression and Stagnation) —अब मैं निःसंकोच उन दो बड़े अन्तरों को आपके सामने रखना चाहता हूं जिनका अनुभव आपको इस पुस्तक तथा हाल ही में लिखी गयी

अनेक पुस्तकों के अध्ययन से होगा। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध उन शक्तियों के बल के साथ है जो औद्योगिक मंदी का कारण बनती हैं और द्वितीय का सम्बन्ध उन सरकारी प्रयत्नों के साथ है जो उन शक्तियों पर विजय पाने के लिए किए जाते हैं।

मैं यह नहीं समझता कि यदि आप एक बार फिर अध्याय १ पर दृष्टि डालें तो आप यह न सोचेंगे कि मुझे अथवा मेरे समकालीनों को व्यापक बेकारी के दोषों से अवगत कराने के लिए १९३० के दशक में होने वाली भीषण मंदी आवश्यक भी थी किन्तु यह सत्य है कि बैंकिंग की कार्य-प्रणालियों से सम्बद्ध अपना पांचवां और 'व्यापार-चक्र के प्रश्न' से सम्बद्ध आठवा अध्याय लिखते समय मैंने अधिकतम स्थान का प्रयोग मुद्रा-सफीति के भयों और उसे नियन्त्रण में रखने के सम्भाव्य उपायों का उल्लेख करने के लिए ही किया था। हो सकता है कि यह बात इस पुस्तक के १९४७ के प्रथम पाठकों के नाते आपको उतनी विचित्र अथवा मूर्खतापूर्ण न लगी हो जितनी कि यह निन्सन्देह १९३०-४० के पाठकों को लगी होगी। इसका कारण यह है कि आपने "पूर्ण नियोजन" की अवधि की उन विचित्र परेशानियों का अनुभव कर लिया है जिसे अब तनिक कृतघ्नतापूर्वक "जन-शक्ति का अभाव" कह कर सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार की कठिनाइयां उस समय में इतनी उग्र नहीं थी जब मैं १९२८ में यह पुस्तक लिख रहा था और उस समय यदि मैंने व्यापारिक तेजी के नियन्त्रण पर इतना अधिक बल दिया था तो इसका कारण यह था कि मैंने जनमत को इस सत्य के प्रति उद्बुद्ध कर दिया था कि यदि यह कार्य सफलतापूर्वक हो गया तो इस बात की समुचित आशा की जा सकती थी कि यथासमय व्यापारिक मंदी के भीषणतम दोषों से भी मुक्ति पायी जा सकेगी (अध्याय ८)। संक्षेप में तनिक असंयत ढंग से यह कहा जा सकता है (क्योंकि इस सम्बन्ध में बहुत ही संयत भाषा का प्रयोग करना विशेष लाभदायक नहीं) कि मैं भी इस विचार का पोषक था कि मंदी, प्रगति और पूंजी-विनियोजन

की लौकिक प्रक्रियाओं में बुरी तरह जकड़ी हुई वस्तु होने पर भी एक आवर्तक व्याधि ही है, शाश्वत नहीं है।

यही वह दृष्टिकोण है जिसका विवेचन हमसबको १९२० के दशक में होने वाली कुछ घटनाओं की विचित्रता (अध्याय ९) १९३० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों की मंदी के भीषणतम प्रकोप और उस दशक के अन्तिम वर्षों में इस मंदी से सम्भलने के अधूरेपन के प्रकाश में करना है। इन्हीं बातों पर विचार करने के पश्चात् अनेक सुयोग्य व्यक्ति उस सिद्धान्त में आस्था रखने लगे हैं जिसे "स्थिरता का सिद्धान्त" कहकर पुकारा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पश्चिमी देशों के समाज शैल्पिक विकास और समृद्धि के उस स्तर तक पहुँच चुके हैं जिसमें बचत की भावना एक संक्रामक रोग की भांति नवीन उधम एवं अनुसन्धान के स्रोतों एवं प्रेरणाओं को पदाक्रान्त करती जा रही है और यदि इस धारा का वेग रोकने के लिए बहुत शक्तिशाली कदम न उठाये गये तो ऐसी मन्दी एक सामान्य बात हो जायगी जिसके बीच-बीच कभी-कभी आंशिक रूप से स्थिति में सुधार होता रहेगा। यह कह देना उचित होगा कि ऐसी भविष्यवाणियां पहले भी की जाती रही हैं और वास्तव में वे सत्य भी सिद्ध नहीं हुई हैं क्योंकि प्रकृति की देवी अथवा इतिहास के देवता ने सदा ही इस सम्बन्ध में अपनी शक्ति और सामर्थ्य का प्रकाशन किया है किन्तु इस प्रकार हमें इन सम्भावनाओं का नये सिरे से मूल्यांकन करने के कार्य से मुक्ति नहीं मिल जाती कि इस बार स्थिरता का भेड़िया वास्तव में हमारे द्वार तक आ गया है अथवा कम-से-कम वह हमारे समीप तक तो अवश्य पहुँच गया है और इस बात के लिए तैयार है कि युद्धोत्तर-कालीन पुनर्निर्माण की प्रक्रियाएं, जिन्होंने इस समय तो स्वाभाविक रूप से चित्र का रूप ही बदल दिया है, पूर्ण होते ही वह हमारे शरीर को भंभोड़ डाले।

इस समस्या के सम्बन्ध में कथनीय बातें इतनी अधिक हैं कि उन्हें

इस छोटे-से पूरक अध्याय के कुछ वाक्यों में समेटना निरर्थक ही है [१]। यदि आप अब भी इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाएं जो केवल अस्पष्ट तथा रूपात्मक ढंग से ही पूछा जा सकता है तो आपको इस असमर्थता के कारण भी चिन्तित नहीं होना चाहिए। यह बात अवश्य है कि यदि आप ऐसी अनेक पुस्तकें पढ़ेंगे जिनमें क्रियाशीलता और नियोजन के एक ऊँचे और स्थायी स्तर को प्रोत्साहन देने वाली निश्चित चेष्टा की प्रणाली पर मेरी इस छोटी-सी पुस्तक की अपेक्षा, अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया गया है तो इससे आपको लाभ ही होगा। साथ ही, यदि आप १९४७ के इङ्गलैंड में रह रहे हैं तो आप इस आशा का भली प्रकार पोषण कर सकते हैं कि आप भविष्य में कुछ समय तक अभाव के वरदानों का आनन्दोपभोग करते रहेंगे (अथवा उन पर बड़बड़ाते रहेंगे) क्योंकि यह दिखाई दे रहा है कि अस्थायी रुकावटों अथवा दरारों के बावजूद, अपनी दीमक लगी जायदाद को बचाने तथा अपने बाह्य ऋणों का भुगतान करने के लिए हमें अभी पर्याप्त समय तक प्रत्येक सम्भव प्रकार की मितव्ययता की आवश्यकता होगी और यदि आप उत्तरी अमरीका में रहते हैं तो आपके अध्ययन से आपको वह भावना ठीक तरह से समझने में सहायता प्राप्त होगी जो एटलाँटिक के इस पार फैली हुई है कि यदि वास्तव में ऐसा कोई भेड़िया है (अन्यत्र मैंने उसे एक कीड़ा कहा है) [२] जिसे शिकार की तलाश है तो आप में उस शिकार की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में संतुलित एवं लाभप्रदा विवेचन के लिए देखिए फेलनर, मानिटेरी पालिसीज एण्ड फुल एम्प्लायमेंट, पृष्ठ ५४ तथा २१४ से आगे।

२. तुलनीय : मेरी पुस्तक एसेज इन मानिटेरी थ्योरी का आठवां खण्ड "दि स्नेक एण्ड दि वार्म।"

§५. **राजस्व का योग** (The Role of Public Finance)—अब मैं उस दूसरी बात का उल्लेख करूँगा जिसके कारण आपको मेरा अध्याय—व्यापार चक्र का प्रश्न—पुराने ढंग का और भद्दा लग सकता है। उसमें आपने देखा होगा कि केन्द्रीय बैंक नीति (जिसमें बैंक की दर और केन्द्रीय बैंकों द्वारा रखी गयी प्रतिभूतियों में होने वाले परिवर्तनों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में कुछ अपेक्षाकृत जटिल विवरणों का भी समावेश था) की चर्चा तो पर्याप्त विस्तारपूर्वक की गयी है किन्तु राजस्व के योग पर अध्याय के अन्त में केवल एक ही पृष्ठ लिखा गया है। कदाचित् इस बात के लिए तो आप मेरी पीठ ठोकने में समर्थ हो जायेंगे कि उन दिनों में जबकि केन्द्रीय बैंक व्यवस्था अपनी प्रतिष्ठा के शिखर पर थी, मैंने यह सन्देह प्रकट किया था कि क्या मौद्रिक नीति किसी की सहायता के बिना कभी भीषण मंदी का मुकाबला करने में समर्थ हो सकेगी? मैंने उस समय स्पष्टत: यह भी कह दिया था कि ऐसी परिस्थितियों में सरकार लोगों की मितव्ययता की उन भावनाओं को लाभप्रद स्वरूप देने के लिए आगे बढ़ सकती है जिनके सम्बन्ध में उस समय निजी उद्योग यही निश्चय करने में असमर्थ और चिन्तित हो कि उनका प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए (अध्याय ८)। यह तो आप जानते ही हैं कि कुछ लोगों का विश्वास है कि "घाटे की अर्थ-व्यवस्था" का यही साधन हमारी समस्त व्याधियों की राम बाण औषधि है। यह ठीक है कि आप सार्वजनिक नियोजन के विभिन्न सम्भव प्रकारों के सम्बन्ध में बहुत अधिक बातें नहीं जानना चाहेंगे अपितु उन अनेक उपायों—उदाहरणार्थ उपभोग के लिए दी जाने वाली राजकीय सहायता अथवा प्रत्यक्ष रूप से दी गई कर-सम्बन्धी छूट—के सम्बन्ध में भी विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे जिनके सम्बन्ध में यह कल्पना करना तर्कसंगत जान पड़ता है कि यदि कोई आधुनिक सरकार अपने अवशिष्ट ऋणों में वृद्धि करने के लिए तैयार है और वह बैंक-प्रणाली को अपने एक आज्ञाकारी सेवक के रूप में काम में ला

सकती है तो वह इन्हीं उपायों का अवलम्बन करके मौद्रिक मांग का प्रवाह विस्तृत कर सकती है। यह एक ऐसा अन्य अन्तर है जिसे थोड़े-से पृष्ठों में दूर करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है विशेषतः इसलिए भी कि इसी ग्रन्थमाला की एक अन्य पुस्तक में इस विषय का अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।[1] मुझे तो यहां अपनी ओर से केवल एक अथवा दो शब्द सावधानी के तौर पर कहने हैं। यदि कभी यह इच्छा की जायगी, और निस्सन्देह किसी-न-किसी समय तो यह इच्छा अवश्य की जाएगी कि इन नीतियों को उलटा करके इनका पालन किया जाए तो अब तक के अनुभव के आधार पर यही कहा जा सकता है कि यह कार्य सर्वथा सरल नहीं होगा। हो सकता है कि राजनीतिक दृष्टि से सरकारों के लिए उन निर्माण कार्य-क्रमों में काट-छांट करना अथवा उनकी चाल धीमी कर देना कठिन हो जाए जिन्हें एक बार सार्वजनिक दृष्टि से अत्यन्त लाभदायक घोषित कर दिया गया हो। जहां तक करों के सम्बन्ध में कड़ाई करने का प्रश्न है, तेली का सार तो यही है कि जबकि यह वास्तव में एक ऐसा समय होता है जब उत्पादन अधिक होता है, तथापि कल्पना के नेत्रों को यह ऐसा तंगी और अभाव का समय ही दिखायी देता है जबकि यह बहुत ही अच्छी बात जान पड़ती है कि लोगों को अधिक काम करने और अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित किया जाए ताकि जिस समय परामर्शदाताओं का एक वर्ग मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए अधिक कर लगाने की पुकार करे तो दूसरा वर्ग उद्यम तथा उत्पादक प्रयत्नों को बढ़ावा देने के लिए कर कम करने का नारा लगाए। जिस समय यह अध्याय लिखा जा रहा है उस समय लगभग यही हो रहा है।

§६. **मौद्रिक नीति और ब्याज की दर** (Monetary Policy and the Rate of Interest)—जब मैंने संकीर्ण अर्थों में

---

१. यू० के० हिक्स, पब्लिक फिनान्स, खण्ड ३।

मुद्रा नीति का इतना विवेचन कर ही लिया है तो इसके सम्बन्ध में कुछ शब्द और कह देना उचित जान पड़ता है। आरम्भ में ही मैं यह बता दूँ कि मेरे चित्र की रेखाएँ, कम-से-कम इस समय के लिए तो पुरानी पड़ गयी है। इंगलैंड में, युद्धारम्भ के समय एक प्रतीकात्मक फड़फड़ाहट के अतिरिक्त, बैंक की दर १९३२ से २ प्रतिशत पर ही टिकी रही है, यहाँ वास्तविक अंक का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि जिन लोगों—हुण्डियों के दलालों—के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध था (जिनका उल्लेख अन्यत्र "वैदेशिक व्यापार के वित्त-पोषण में लगे" लोगों के रूप में किया गया है) वे लोग तो अब लगभग पूर्णत: स्वयं सरकार के वित्त-पोषण में ही लगे हैं और अब बैंक की दर का प्रयोग उन लोगों के कार्य व्यापार का नियन्त्रण करने के एक साधन के रूप में नहीं किया जाता। अमेरिका में भी अब फेडरल रिजर्व पुनर्बट्टे की दर (जो इस समय १ प्रतिशत है) का विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि अब सदस्य बैंक छोटे पैमाने पर ही रिजर्व बैंकों से ऋण लेते हैं।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण वह तरीका है जिसके द्वारा ऋणों की शर्तों का नियन्त्रण करके मुद्रा, मांग के प्रवाह को सीमित करने की सम्पूर्ण विचारधारा ही पृष्ठभूमि में चली गयी है। इसमें अनेक कारणों का हाथ रहा है। इनमें से अधिकतम प्रत्यक्ष कारण यह है कि राष्ट्रीय ऋणों के आकार में अपरिमित वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप (१९२८ से ब्रिटेन के राष्ट्रीय ऋण तिगुने हो गये हैं और अमेरिका के पन्द्रह गुने) राष्ट्रीय राजकोषों को, कर दाता के वफादार परिचारक के रूप में "सस्ती मुद्रा" बनाए रखने का एक मजबूत निजी स्वार्थ भाव प्राप्त हो गया है। किन्तु इस नीति का पालन करते समय वे ऐसे अनेक सैद्धान्तिक प्रभावों की सहायता प्राप्त करने में समर्थ हो गए हैं जो प्राचीन समय में उन्हें प्राप्त न होते। अधिक नियोजन की खोज और स्थिरता सिद्धान्त की लोक-प्रियता ने यह विश्वास अत्यन्त व्यापक कर दिया है कि आधुनिक संसार के स्वास्थ्य के लिए व्याज की

नीची दरें स्थायी रूप से आवश्यक हैं—वे प्रगति के लिए अनिवार्य उस अस्त्र के समान हैं जिसकी उपेक्षा अस्थायी तंगियों और दबावों के बावजूद भी नहीं की जा सकती। सामाजिक दृष्टिकोण से ब्याज-दर की उन कमियों अथवा बुराइयों पर पर्याप्त बल दिया जा चुका है जो इसमें, उधार दी जा सकने वाली राशियों के स्यात्मक प्रयोगों के निर्णायक के रूप में पायी जाती हैं और जिनकी ओर इस पुस्तक (अध्याय ८) में संकेत भी किया गया है। अतः उक्त सिद्धान्त के अनुसार जो बात उचित है उसका प्रयोग भी सम्भव है क्योंकि दृढ़ संकल्प का पर्याप्त प्रदर्शन होने पर मुद्रा के अन्य समस्त नेताओं को दरों के वे स्तर स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है जो मौद्रिक यन्त्र के सरकारी नियन्त्रण की देन होते हैं।

इस तरह यह सम्भव हो सका है कि युद्धान्त के उपरान्त से, इंग्लैंड में, मुद्रास्फीति के दबाव की स्थिति का अस्तित्व स्वीकार किया जाने पर भी, ब्याज की दरें युद्ध-काल की ब्याज-दरों से भी निचले स्थर पर ले आयी गयीं। बैंकों को यह प्रेरणा दी जाती रही है कि वे (बैंक आफ इंग्लैंड में रखे अपने अवशेषों के समुचित विस्तार की सहायतापूर्वक) नये ऋणों से सम्बन्ध रखने वाली सरकारी आवश्यकताओं के उस भाग की सहर्ष पूर्ति कर दें जिसकी पूर्ति जनता, सरकार द्वारा निर्धारित कम दरों पर करने के लिए तैयार न हो। उसके फलस्वरूप बैंक-मुद्रा के परिमाण में होने वाला विस्तार (एक प्रक्रिया जिसे कभी-कभी "सार्वजनिक ऋण का मौद्रीकरण" कहकर पुकारा जाता है) प्रत्यक्षतः उन योग्यतापूर्ण टेकनिकल प्रक्रियाओं से और भी बढ़ गया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि जो दीर्घावधि ऋण पहले से ही जनता के पास उपस्थित थे उनके एक भाग के लिए अल्पकालीन ऋणों का तबादला कर दिया गया। इन सब बातों पर कुछ लोगों ने नाक-भौं चढ़ाई है किन्तु कदाचित् किसी ने भी निश्चित रूप से यह नीति उलट देने का प्रस्ताव नहीं किया और यह एक महत्त्वपूर्ण

बात है कि जो लोग १९४७ में एक मुद्रा-स्फीति विरोधी (Disinflationary) नीति के लिए दबाव डाल रहे थे उन्होंने भी यह स्पष्ट कर दिया कि वैसा करते समय उनका ध्यान बजट सम्बन्धी संतुलन की ओर था, ऋण का परिमाण कम करने की ओर नहीं। अमेरिका में फेडरल रिजर्व अधिकारियों ने १९४६ में सार्वजनिक ऋण के मौद्रीकरण की बुराइयों के सम्बन्ध में एक अमंगलसूचक गर्जना की थी किन्तु उसी वर्ष के अन्त तक उन्होंने यह घोषणा कर दी कि वे इस बात से सन्तुष्ट हैं कि उनकी सरकार की ऋण-सम्बन्धी प्रक्रियाओं द्वारा वह सब काम कर दिया गया है जो अभीष्ट था और दरों में की जाने वाली प्रत्येक वृद्धि जन-हित के प्रतिकूल होगी, उसी जन-हित के प्रतिकूल होगी जिसे सरकारी प्रतिभूतियों के लिए एक स्थायी बाजार अभीष्ट है[१]।

मेरे युद्धोत्तरकालीन पाठको, ये घटनाएँ, उन अनेक घटनाओं की भांति, जिनका उल्लेख मैंने १९२८ में किया था, शीघ्र ही इतिहास का एक अंग बन जाएगीं किन्तु उनके पीछे जो समस्या छिपी है, वे मेरे विचार से, किसी-न-किसी रूप में आपका ध्यान आकृष्ट करती रहेगी। अन्ततः उस हथियार में जंग लग जाने के परिणाम क्या होंगे जिसकी लोचदार और परोक्ष कार्य-प्रणाली की भूतकाल में इतनी अधिक प्रशंसा एवं सराहना की गई है।[२] इस सम्बन्ध में कोई निर्णय देने के लिए

---

१. देखिए फेडरल रिजर्व बुलेटिन, १९४६, फरवरी पृष्ठ १२१ और नवम्बर पृष्ठ १२३२।

२. ''हमारे इस निश्चय के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि किसी मुद्रा-प्रणाली की समुचित व्यवस्था के लिए बैंक-दर-नीति नितान्त आवश्यक है और इस कार्य के साधन के लिए यह एक सुन्दर तथा कोमलतम उपकरण है।''—रिपोर्ट आफ मेकेमिलन कमिटि आय फाइनेंस एंड इन्डस्ट्री (१९३१) (पृष्ठ ९७)। समिति ने यह

आपको उस रहस्य के अन्तराल में गम्भीरतापूर्वक प्रवेश करना पड़ेगा जिसका उल्लेख इस पुस्तक में करने का प्रयत्न नहीं किया गया है— वह रहस्य है इस विचित्र जन्तु अथवा जन्तु-परिवार की वास्तविक प्रकृति, व्याज-दरों की जटिलता और विशेषतः इसके पूर्वजों में मौद्रिक तथा अमौद्रिक तत्वों की पारस्परिक शक्तियाँ। इन बातों के सम्बन्ध में मेरी धारणाओं को कदाचित् बहुत अधिक लोग नहीं अपनाते किन्तु जब तक मैं इस सम्बन्ध में आपको चेतावनी देता हूँ तब तक तो मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि मैं आपको यह क्यों न बताऊं कि यह क्या है—भले ही आप मेरे समस्त परिश्रम के लिए मुझे एक "दुखदायी बोरबोन"[1] (Baneful Bourbon) ही क्यों न कहें (मैं समझता हूं कि विश्व के मुद्राधिकारियों ने जिस सफलता के साथ १९३० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में व्याज-दरों को कम करके उस वास्तविक परिवर्तन के अनुरूप बना दिया जो विश्व की आर्थिक स्थिति में हो गया था, उस सफलता ने लोगों के हृदय में उस सीमा के सम्बन्ध में एक अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा बना दी है जिस हद तक वे, वास्तविक आर्थिक शक्तियों को अपने विरुद्ध पाकर उनका सामना कर सकेंगे। मुझे तो यह सन्देह होता है कि ऐसा करने के प्रयत्न कहीं उन्हें अन्ततोगत्वा उससे अधिक विस्तृत तथा स्थायी, मौलिक और वित्तीय नियंत्रणों का तरीका उपभोग तथा पूंजीगत व्यय कर लागू करने के

विचार प्रकट किया था कि इसकी उपयोगिता इस कारण सीमित हो गयी थी क्योंकि इसका प्रयोग व्यापार की स्थिरता की अपेक्षा विनिमयों की स्थिरता बनाए रखने के एक साधन के रूप में अधिक किया गया। अब फिर विनिमय-स्थिरता का आदर और बैंक-दर का अनादर हो रहा है। समय का चक्र इसी प्रकार अपने प्रतिशोध लिया करता है।

१. दि चांसलर आफ दि एक्सचेकर, बजट-भाषण, १५ अप्रैल, १९४७।

लिए बाध्य न कर दें जितना कि उनके नागरिक वास्तव में पसन्द करते हैं अथवा जितने का पालन वे क्रियात्मक रूप से भी करने के लिए तैयार हैं। मैं अब कर्मचारी-वर्ग के आवासन को एक ऐसी क्रिया के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं समझता जिसे ब्याज-दर की अग्नि-परीक्षा से पूर्णतः अलग रह सकने के विशेष अधिकार हैं (अध्याय ८) क्योंकि "तेते पांव पसारिए जेति लम्बी सौर" की स्थिति आ जाने पर, अन्य अनेक वांछित वस्तुओं की भांति, उसका विवेचन भी अधिक अथवा कम के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। और यदि हमने कटाई-छंटाई का काम करनें के लिए, सर्वज्ञ सरकार द्वारा किए जाने वाले सामाजिक प्राथमिकताओं के आयोजन और सार्वजनिक राजस्व की चतुरतापूर्ण क्षतिपूरक व्यवस्था पर स्थायी रूप से विश्वास करने का निश्चय कर लिया है तो मेरा अनुमान है कि ऐसे अवसरों की संख्या बहुत कम नहीं होगी जब ये उच्च एवं महान् एजेन्सियां अपने गंदे काम का कुछ भाग उन भद्दे और अरुचिकर भृत्यों अव्यवस्था और अभाव के हाथों में छोड़ देंगी।

§७. **मौद्रिक-नीति और मुद्रा-वेतन-दर** (Monetary Policy and Money Wage Rates)—अब हम एक अन्य बड़े मामले पर विहंगम-दृष्टि डालेंगे। यहाँ भी मुझे ऐसा लगता है मानो यहाँ यह अनुभव करने की पर्याप्त गुंजाइश है कि हमने पुराने पुलिसमैन को तो पदच्युत कर दिया है किंतु उसके स्थान पर अधिक विवेकशील तथा सदाशय पुलिसमैन की नियुक्ति का प्रबन्ध नहीं किया क्योंकि आजकल कभी-कभी ऋण-नीति के कारण होने वाली मुद्रा-स्फीति की परिस्थितियों (कहा जाता है कि हमने इन्हें सफलतापूर्वक टाल दिया है) और मुद्रा-वेतन-दरों के ऊर्ध्वगामी वेग के कारण होने वाली परिस्थितियों (जिनके सम्बन्ध में हम अपने को अब भी अल्पज्ञ मानते हैं) के बीच एक स्पष्ट अन्तर दिखाने के जो प्रयत्न किए जाते हैं उनकी वैधता मेरे विचार से, केवल सीमित ही है। यदि कटु-सत्य कहने

देया जाए तो क्या ऋण-संकोच का अभिशाप ही अन्ततः मुद्रा-वेतनों में वृद्धि करने में नियोजकों की क्षमता सीमित करने और इसीलिए काम करने वालों को इस वृद्धि के लिए दृढ़-संकल्प बनाने के लिए उत्तरदायी नहीं था ?

यदि हमने अन्ततः एक ऐसे संसार में ही प्रवेश करना है जहाँ तथाकथित मुद्राधिकारियों का, मुद्रा के परिमाण और मूल्य पर डाला जाने वाला प्रभाव केवल उन निर्णयों को लिपिबद्ध करने तथा उनका पालन कराने तक सीमित है जो व्यापार संघों (ट्रेड यूनियनों) द्वारा मुद्रा-वेतनों की दर के सम्बन्ध में किए जाते हैं तो हमें निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दबावों का भार सहन करना ही होगा। पिछले अध्याय में मैंने आशापूर्वक, किंतु अत्यधिक विश्वास के बिना, उन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के भविष्य की चर्चा की है जो १,४७ की इस वसन्त ऋतु में प्रसव-पीड़ा की स्थिति में है। मैंने स्पष्टतः यह बता दिया है कि उन संस्थाओं की सफलता अधिकतर उस तत्परता पर निर्भर होगी जिससे सम्पन्नतर राष्ट्र सम्पन्नता के आनन्दों का उपभोग करने और उसके दायित्वों की पूर्ति करने के लिए तैयार होंगे किन्तु यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि उक्त सफलता अपेक्षाकृत निर्धन राष्ट्रों की उस तत्परता पर भी निर्भर होगी जिससे वे लगातार इस भावना से बचने का प्रयत्न करेंगे कि वे अपनी वास्तविकता सम्पन्नता से अधिक सम्पन्न हैं। 'चार्टरों' में ऐसी जिन धाराओं पर बल दिया गया है कि अमुक अधिकार अथवा अमुक सुविधा से किसी राष्ट्र को केवल 'उसकी घरेलू सामाजिक अथवा राजनैतिक नीतियों' के कारण वंचित नहीं किया जाएगा। वे बहुत अच्छी है किंतु अन्तराष्ट्रीय सहयोग और सद्भाव का ढांचा इस बात की गारन्टी नहीं है कि उन धाराओं का असावधानी अथवा नृशंसता के साथ प्रयोग नहीं किया जाएगा। धनवान् तथा सम्पन्न व्यक्ति के कुछ दायित्व होते हैं—किन्तु उच्चकोटि की निर्धनता के भी कुछ दायित्व होते हैं।

हो सकता है कि ये सब बातें मेरी भविष्यवाणियों से अधिक अच्छे रूप में सामने आवें और यह भी सम्भव है कि १९५० के दशक में मेरी यह पुस्तक पढ़ने वाले पाठक मेरी निरर्थक आशंकाओं पर मुक्त हृदय से हँसें। मैं आशा करता हूँ कि यदि ऐसा हुआ तो आप उन आशंकाओं का कारण इस इच्छा का अभाव नहीं मानेंगे कि अर्थ-शास्त्र की देवी को समस्त अच्छे उद्देश्यों की सेविका बनना चाहिये अपितु इसका कारण तो कदाचित् उसकी ओर से की जाने वाली किंचित् ईर्ष्या की भावना है ताकि कहीं ऐसा न हो कि भूतकाल के वास्तविक अथवा कल्पित दुराचरणों का पश्चात्ताप करते-करते वह लोगो को उपवनपथ की ओर ले जाकर, नवीन अपयश की भागिनी बन जाए।

—०:०—